

माला (२)

मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा

बी०ए० संस्कृत प्रथम वर्ष में निर्धारित

काव्यदीपिका

द्वितीय, तृतीय तथा अष्टम शिखा पर आधारित

(काव्यांगनिरूपणम्)

सम्पादक—

निरूपण विद्यालङ्कार

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

मेरठ कालिज

मेरठ ।



प्रकाशक—

हित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ ।

[मूल्य २·००

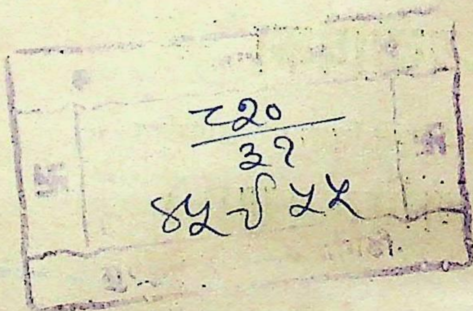
प्रकाशक :

रतिराम शास्त्री

अध्यक्ष

साहित्य भण्डार,

सुभाष बाजार, मेरठ ।



प्रथम संस्करण, १५ अगस्त १९६७.

मुद्रक :

सर्वोदय प्रेस,

२९४, जत्तीवाड़ा, मेरठ ।

फोन नं० ४३५२

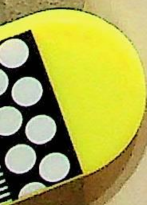


ास्ताविकम्

मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ में संस्कृत के विद्यार्थियों को काव्य के व अङ्गों—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाशक्ति, रस तथा अलंकार—का म्भिक मूल ज्ञान कराने के लिये काव्यदीपिका को बी० ए० प्रथम के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया है। अतः इसी उद्देश्य को न में रखते हुये इस पुस्तक का सम्पादन किया गया है। विषय को ष्ट करने के लिये सर्वत्र संस्कृत और हिन्दी की व्याख्याओं के साथ-थ टिप्पणियों का भी उपयोग किया गया है। आशा है कि पुस्तक द्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

गुढ़ा—मैनपुरी
स्वातन्त्र्य-पर्व
१५ अगस्त १९६७

—निरूपण विद्यालंकार





❀ ओ३म् ❀

काव्यांगनिरूपणम्

ाव्यदीपिका—द्वितीय-शिखा

यस्वरूपमाह—

अन्वितैकार्थबोधे तु वाक्यं पदसमुच्चयः ।

प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि तेषामर्थो नान्वितः, वाक्यन्तु तदन्तर्गतपदार्थ-मर्थं बोधयति । यथा—'जननी सुताननं सस्नेहमीक्षते' ।

—अन्वितैकार्थबोधे=अन्वितस्य- (आकांक्षाऽऽसत्तियोग्यता-स्परम्) अन्वययुक्तस्य एकस्य अर्थस्य बोधे सति तु-एव पद-=पदानां-सुबन्ततिङन्तपदानां पदयोर्वा समुच्चयः- समूहः भवति) । अन्वितैकार्थबोधजनकत्वे सति पदसमूहत्वं मित्यर्थः ।

नां-सुबन्ततिङन्तपदानाम् तद्यथा—गौः अश्वः महिषः, अराजन्, राजधानीत्यादिपदानां प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि वादिपदानाम् अर्थः न अन्वितः (ततश्च अस्य पदसमुदा-वाक्यत्वम्), वाक्यं तु-तावत् तदन्तर्गतपदार्थसमुदितम्=समुच्चयस्य वाक्यस्य अन्तर्गतस्य=अन्तः-मध्ये गतस्य-विद्यमा-र्थस्य समुदितमेकमर्थं बोधयति-ज्ञापयति । यथा-जननी-माता =सुतस्य आननं-मुखं सस्नेहं=स्नेहेन सहितं स्नेहपूर्वकमीक्षते-

का—वाक्य का स्वरूप बताते हैं—

-आकांक्षा, आसत्ति और योग्यता से परस्पर सम्बद्ध एक अर्थका ज्ञान ी अनेक पदों का अथवा दो पदों का समूह वाक्य कहलाता है।

गौः, अश्वः, महिषः, कन्या, अराजन्, राजधानी—इत्यादि प्रत्येक पद के सार्थक होने पर भी उन गवादि पदों का अर्थ पर नहीं है, (अतः यह पदसमूह वाक्य नहीं कहला सकता है) विपरीत) वाक्य तो पदसमूह (वाक्य) के अन्तर्गत प्रत्येक पद सम्बन्धित एक अर्थ का ज्ञान कराता है। तद्यथा—"माता के मुख को प्रेमपूर्वक देखती है।

टिप्पणी—(१) आकांक्षा—प्रतीतिपर्यवसानविरहः अर्थात् की समाप्ति का अभाव=Interdependence.

(२) आसत्ति—बुद्ध्यविच्छेदः, सन्निधिरिति यावत्=बुद्धि अर्थात् अत्यन्त सामीप्य स्थिति=close juxtaposition or p

(३) योग्यता—पदानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः अर्थात् परस्पर सम्बन्ध में बाध न होना=Capability of being together or Compatibility.

(४) कहने का आशय यह है कि आकांक्षा, आसत्ति और युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। किन्तु यदि कोई यह का लक्षण "पदसमुच्चयो वाक्यम्" इतना ही करना चाहिये बोधे' की क्या आवश्यकता है, तो इस विषय में यह कहना है समुच्चयो वाक्यम्" इतना ही वाक्य का लक्षण किया जायेगा अश्वः, पुरुषो, हस्ति, इत्यादि भी वाक्य हो जायेंगे क्योंकि पदों का समूह है, जो कि अभीष्ट नहीं है। क्योंकि इनके आकांक्षा का अभाव है। इसीप्रकार एक एक करके प्रहर पृथक् पृथक् उच्चारित "गामानय" इत्यादि पदसमूह वाक्य नहीं इनमें परस्पर अन्वय की आकांक्षा रहते हुये भी और परस्पर योग्यता होते हुये भी परस्पर आसत्ति (सन्निधि) नहीं है। इसीप्र का अभाव होने से "अग्निना सिञ्चति" यह पदसमूह भी वाक्य

ञ्चन में परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं है क्योंकि 'अग्नि से' इस वभक्ति से सिञ्चन रूप कार्य के प्रति अग्नि की करणता प्रतिपादित र अग्नि सिञ्चन का कारण होने के योग्य नहीं है। इसलिये और अग्नि के कार्य- कारणभावरूप सम्बन्ध के अयोग्य होने से (सिञ्चति" यह पदसमूह वाक्य नहीं है। अतः वाक्य के लक्षण में ार्थबोधे" कहा है।

ऊपर "पदानाम्" की "सुबन्ततिङन्तपदानां पदयोर्वा" ऐसी ी गई है। इनमें से अनेक पदों के समूह का उदाहरण मूल में जा चुका है। दो पदों का उदाहरण—राजा गच्छति।

दस्वरूपम्—

प्तिङन्तं पदं प्राह पाणिनिर्मुनिसत्तमः॥१॥

न्तः तिङन्तश्च शब्दः पदम्। यथा—'रामः', 'भवति' इत्यादि।

ा—मुनिसत्तमःमुनिषु सत्तमो मुनिसत्तमः—मुनिश्रेष्ठः पाणिनिः ङन्तं पदम्" १।४।१४ इति सूत्रेण) सुप्तिङन्तं=सुबन्तं तिङन्तं रूपं पदं—पदसंज्ञं भवति, इति प्राह।

ः इति एकं सुबन्तं पदम्, भवति इति अपरं तिङन्तं पदम्।

"तरणिका— वाक्य का लक्षण करते हुये "पदसमुच्चयः" कहा गया है, प्रति पद किसे कहते हैं, इसका ज्ञान कराने के लिये 'पद' का लक्षण :—

—मुनियों में श्रेष्ठ पाणिनि ने सुप् प्रत्ययान्त और तिङ् प्रत्ययान्त 'पद' कहा है।

न्त–सुप् प्रत्ययान्त और तिङन्त-तिङ् प्रत्ययान्त शब्दों को 'पद' कहा है। ामः (यह सुप् प्रत्ययान्त पद है) "भवति" (यह तिङ् प्रत्ययान्त पद दि।



टिप्पणी—सुप्तिङन्तम् में सुप् और तिङ् से प्रत्ययाहार का ग्रह[ण करना] चाहिये ।

शब्दविभागः—

शब्दः पुनस्त्रिविधः, यथाह मम्मटभट्टः

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

टीका—त्रिविधः—तिस्रो विधाः भेदो यस्य स त्रिविधः ।

अत्र—अलंकारग्रन्थे वाचकः—वक्ति-अभिधया अर्थं प्र[काशयति] इति वाचकः, लाक्षणिकः—लक्षणया अर्थं प्रकाशयति इति ला[क्षणिकः] व्यञ्जकः—व्यञ्जनया अर्थं प्रकाशयति इति व्यञ्जकश्च त्रिधा-[त्रिप्रकारः] शब्दः स्यात् ।

अवतरणिका—"सुबन्तः तिङन्तश्च शब्दः पदम्"—ऐसा [कहा जा] चुका है । यहाँ शब्द कितने प्रकार का होता है इसका प्रतिपादन करते [हैं ।]

अर्थ—और (पुनः) शब्द तीन प्रकार का होता है, जैसा (कि) [मम्मटभट्ट] ने कहा है:—

इस अलंकारशास्त्र में (अत्र) वाचक, लाक्षणिक और व्य[ञ्जक] (इसप्रकार) तीन प्रकार का शब्द होता है ।

टिप्पणी—(१) लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का वाचक शब्द [उपजीव्य] होता है तथा व्यञ्जक शब्द के वाचक और लाक्षणिक शब्द उपजी[व्य] हैं, इसलिये उनका क्रमशः कथन किया गया है ।

(२) यद्यपि वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक—इस विभाजन से [शब्द] तीन प्रकार का होता है, इसकी प्रतीति हो जाती है परन्तु पुनर[पि] "त्रिधा" शब्द का प्रयोग यह दिखाने के लिये किया गया है कि श[ब्द तीन] प्रकार का ही होता है, न इससे कम न ही इससे अधिक ।

(३) आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश नामक अलंकारशा[स्त्र में] इसका वर्णन किया है । देखिये, काव्यप्रकाश २.५

अर्थविभागः—

अर्थोऽपि शब्दप्रतिपाद्यस्त्रिविध एव—वाच्यः, लक्ष्यः, व्यङ्ग्यश्च ।

वाच्यादयस्तदर्थाः स्युर्मम्मटेन यथोदिताः* ॥ २ ॥

का—वाच्यादयः-वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः (क्रमेण) तदर्थाः=तेषां-
लाक्षणिकव्यञ्जकशब्दानां अर्थाः स्युरिति मम्मटेन-मम्मटाचार्येण
ताः—यथाशास्त्रमुदिताः—उक्ताः अर्थात् वाचकस्य शब्दस्यार्थः
, लाक्षणिकस्य शब्दस्यार्थः लक्ष्यः, व्यञ्जकस्य शब्दस्यार्थः
॥२॥

वतरणिका—शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है, अतः इन
लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के क्या २ अर्थ होते हैं, इसका प्रति-
किया जाता है —

र्थ—शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ भी तीन प्रकार का होता है—वाच्य,
र व्यङ्ग्य ।

च्य, लक्ष्य और व्यंग्य उन (वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक) शब्दों
होते हैं- जैसे (कि) आचार्य मम्मट के द्वारा कहे गये हैं ॥ २ ॥

पणी—(१) अर्थोऽपि—यहां पर प्रयुक्त "अपि" का यह तात्पर्य है कि
र शब्द तीन प्रकार का होता है, उसीप्रकार शब्द प्रतिपाद्य अर्थ
प्रकार का होता है ।

) "वाच्यादयः" में "आदि" पद से लक्ष्य और व्यंग्य का ग्रहण
।

कहने का आशय यह है कि वाचक शब्द का अर्थ वाच्य, लाक्षणिक
अर्थ लक्ष्य और व्यञ्जक शब्द का अर्थ व्यंग्य होता है ।

* देखिये, मम्मटप्रणीत काव्यप्रकाश अध्याय २ सूत्र ६

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह --

साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ ३ ॥ [म

साक्षात् संकेतितस्तु 'अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्यः इति स्य स्वाभाविक्या शक्त्या व्याकरणादिना वा नियन्त्रितः । शक्तिः 'अभिधा' इत्युच्यते । अनया बोध्योऽर्थः वाच्यः, स च बोध्यत्वेन प्रधानतया मुख्यार्थ इत्यप्यभिधीयते । यथा गोशब्दोऽ गलकम्बलादिमज्जीवविशेषरूपं पाचकशब्दश्च पाककर्तृरूपं चार्थं बोधयति ।

टीका—वाचकादीनाम्-वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानां श क्रमेण—उद्देशक्रमेण स्वरूपं=लक्षणम् ।

साक्षादिति—यः—शब्दः साक्षात्--अव्यवधानेन संकेतितं नियमितं ग्रहीतसंकेतमिति यावत् अर्थं--जात्यादिरूपम् अभि प्रतिपादयति, सः--शब्दः (तस्यार्थस्य) वाचकः ॥ ३ ॥

स्वाभाविक्या—स्वतःसिद्धया, शक्त्या--सामर्थ्येन, श तत्तद्भाषावादिभिर्नियमितेति बोध्यम्, नियन्त्रितः--निय निर्द्धारित इत्यर्थः, अनया --अभिधया। अभिधया--अभिधा शक्त्या। गजकम्बलादिमत्=गजकम्बलः-सास्ना, सास्नाभती च व भवति ।

अर्थ—वाचकादि शब्दों का क्रमशः लक्षण कहते हैं :—

जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ का प्रतिपादन करता है वह (शब्द) कहलाता है । ३ ।

साक्षात् संकेतित अर्थ तो "इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिये प्रकार शब्द की स्वाभाविक (स्वतः सिद्ध) शक्ति से अथवा व्याकरण से (किसी विशिष्ट अर्थ में) नियमित होता है । यह ही (शब्द की स्वा शक्ति "अभिधा" नाम से कहलाती है । इस (अभिधा शक्ति) से बोधि वाला अर्थ "वाच्य" (होता) है, और वह (वाच्यार्थ) साक्षात् बोध्य कारण प्रधान रूप से "मुख्यार्थ" भी कहलाता है। जिसप्रकार

धा शक्ति के द्वारा सास्नादिमान् (गजकम्बल) जीवविशेष (गौ) को, पाचक शब्द (व्याकरण के बल से) पाककर्तृ रूप अर्थ को साक्षात् त करता है।

टिप्पणी—(१) स्वरूपम् की व्युत्पत्ति—स्वं लक्ष्यपदार्थो रूप्यते लक्ष्यते व्यावृत्या ज्ञायते) अनेनेति व्युत्पत्या स्वरूपं= लक्षणम् इतरभेदकमिति ।

(२) साक्षात्=अव्यवधान=अन्य वृत्तियों के व्यापार से शून्य ।

(३) व्याकरणादिना—यहां पर आदि पद से उपमान आदि का ग्रहण है, तद्यथा —

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाऽऽप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति।

क्रमशः उदाहरण —

व्याकरण से नियन्त्रित—"पाचकः" इत्यादि ।

उपमान से नियन्त्रित—"गोसदृशो गवयः" इत्यादि । गाय के सदृश (व्यक्ति) को देखकर "गाय के समान गवय होता है" इस पूर्व वाक्य के द्वारा "यह गवय है" इसप्रकार का ज्ञान उपमान के द्वारा होता है ।

कोष से—"विनायके विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः" इत्यादिक ज्ञान के द्वारा होता है ।

आप्त वाक्य से —"अयमश्वशब्दवाच्यः" इत्यादि ।

व्यवहार से —जिस समय कोई वृद्ध व्यक्ति अपने से आयु में कम किसी को लक्षित करके कहता है कि "गामानय" इति । उस समय उस स्थान खड़ा हुआ बालक (जिसको संकेत का ज्ञान नहीं है) उस युवक को गाय लाने में प्रवृत्त देखकर सर्वप्रथम उस वाक्य का शक्ति ग्रहण से पूर्व सास्नादिमान् पिण्ड को लाने" रूप अर्थ का मन ही मन निर्धारण कर लेता तदनन्तर "गां बधान, अश्वमानय" ऐसा कहने पर अन्वय व्यतिरेक के द्वारा "गाय बाँध दो" यहां पर गो पद से सास्नादिमान् पदार्थ का बोध हुआ

तथा 'बधान' इसके द्वारा पहले कहे गये "आनय" इस पद से भिन्न लाये) वाले पदार्थ बोध का अभाव हुआ अर्थात् पहले तो "गामानय" ऐसा कह) बालक ने देखा था कि वृद्ध व्यक्ति के कहने के साथ ही युवक उठकर चल था और सास्नादिमान् पदार्थ को लाया था परन्तु 'बधान' कहने पर वा 'आनयन' क्रिया का अभाव देखता है। इसीप्रकार 'अश्वमानय' यहां प बालक ने देखा कि इस बार 'गामानय' की तरह सास्नादिमान् पदार्थ का हुआ और 'आनय' इस पद से आहरण की क्रिया पूर्ववत् हुई (ऐसा ज्ञा बालक को अन्वयव्यतिरेक के द्वारा होता है)। गो शब्द का 'सास्नादि अर्थ और 'आनय' पद का "लाना" अर्थ पृथक् रूप से निर्धारित करता है

सिद्ध पद के सान्निध्य से—"प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पि इत्यादि। "विकसित कमल के मध्यभाग में मधुकर मधु का पान कर रह यहां पर "कमलोदरे मधूनि पिबति" इसप्रकार के पदों की अन्वय को बताने वाले ज्ञान के द्वारा 'मधुकरः' इस पद का "भ्रमर" में ही है, मधुमक्खी के अन्दर नहीं यद्यपि 'मधुकरः' इस पद के अन्दर 'मधु यह दूसरा अर्थ बताने की योग्यता है परन्तु वक्ता के तात्पर्य विशेष के इसका शक्तिग्रहण नहीं होगा। कमल के अन्दर भ्रमर ही रसपान क ऐसा जानने वाला मनुष्य कमल पद के साहचर्य से 'मधुकरः' पद 'भ्रमर' ग्रहण कर लेता है।

वाक्य के शेष होने से—"यवमयश्चरुर्भवति" यहां पर प्रश्न पै है कि यहां पर विद्यमान 'यव' शब्द वसन्तकालीन शस्यविशेष का है अथवा यवनों में प्रसिद्ध कङ्गु नामक शस्यविशेष का बोधक अवस्था में।

वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः॥

इस वाक्य शेष से वसन्त ऋतु में उत्पन्न होने वाले यव का होता है।

विवृत्ति=विवरण से—"रामो दाशरथिः" इत्यादि। यहां पर का अर्थ परशुराम न लिया जाकर दशरथ के पुत्र राम का ग्रहण हो

अभिधाशक्तिप्रतिपाद्य अर्थ को ही "वाच्य" कहते हैं।

संकेतितमर्थम्–महाभाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार संकेतग्रह
ण, क्रिया, यदृच्छा-इन चार में निवास करता है किन्तु इसके विप-
ांसक केवल जाति में संकेतग्रह स्वीकार करते हैं।

दस्य स्वाभाविकीं शक्तिं सर्वे नाद्रियन्ते, रूढसम्मतिरेव र्थवाचने हेतुरिति केचिदाचक्षते। तथा च अभिधाऽपि तन्मते लक्षणा- इव आरोपितैवेत्यलमतिगहनावगाहनेन]

ा—**रूढ़सम्मतिः**—रूढा-निरूढा प्रख्याता सम्मतिः लोक- अर्थात् यं कमपि अर्थं जनसमूहः केनापि शब्देन व्यवहरेत् सम्मतिः, अर्थवाचने=अर्थस्य वाचने-बोधने, आचक्षते-वदन्ति, ता कल्पिता।

—शब्द की स्वभाविक शक्ति (अभिधा) को सभी (आचार्य) आदर से नहीं देखते हैं अर्थात् नहीं मानते हैं, रूढसम्मति (लोकप्रसिद्धि) के अर्थ का ज्ञान कराने में कारण होती है- ऐसा कुछ (आचार्य) । और इसप्रकार उनके मन में अभिधा शक्ति भी लक्षणा और के समान कल्पित ही है। अतः (इति) इस विषय में अत्यधिक गाहन में प्रवेश करने से बस।

पणी—(१) कहने का आशय यह है कि कुछ आचार्यों की सम्मति भिधा शक्ति को नहीं मानना चाहिये किन्तु जिस अर्थ को दस पाँच लकर जिस शब्द से व्यवहृत करें, वह शब्द उसी अर्थ का वाचक चाहिये और उस शब्द का वह अर्थ वाच्य समझना चाहिये। अतः शक्ति पृथक् से कोई शक्ति स्वीकार न करके लोक सम्मति से ही कार्य ा चाहिये।

) कुछ आचार्यों का कहना है अभिधा का ही दूसरा नाम रूढसम्मति

(३) यह गद्यांश कोष्ठ के अन्तर्गत उपलब्ध होता है, अतः स
मूलपाठ नहीं है।

(४) यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाये और यह मान
कि अभिधा से भिन्न कोई रूढसम्मति भी होती है, तो ऐसा स्वी
जा सकता है कि सम्भवतः इस प्रकरण से तात्पर्य नामक वृत्ति की
किया जा रहा है, जिसका उल्लेख आचार्य मम्मट ने अपने का
द्वितीयोल्लास में 'तात्पार्यार्थोपि केषुचित्'' २. ७ कहकर किया है।

लक्षणया अर्थबोधकः शब्दो लाक्षणिकः, तया बोध्योऽर्थ

टीका--लक्षणया-लक्षणाख्यया वृत्या। तया-लक्षणया।

अवतरणिका—वाचक की व्याख्या करने के उपरान्त सम्प्रति
लक्षणा की व्याख्या की जाती है।

अर्थ—लक्षणा नामक वृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराने
'लाक्षणिक' होता है। उस (लक्षणा) से प्रतीत होने वाला
कहलाता है।

लक्षणास्वरूपमाह विश्वनाथः—

'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता'॥

टीका--मुख्यार्थबाधे=मुख्यार्थस्य-अभिधेयार्थस्य साद
स्येत्यर्थः बाधे-अन्वयानुपपत्या प्रतिबन्धे सति यया (श
प्रसिद्धिवशात् प्रयोजनाद्वा -उद्देश्यविशेषाद्वा तद्युक्तः=तेन
युक्तः-सम्बन्धवान् अन्योऽर्थः-मुख्यार्थाद्भिन्नोऽर्थः प्रतीयते-
सा अर्पिता--आरोपिता अस्वाभाविकीत्यर्थः शक्तिः—वृ
लक्ष्यतेऽनयेति व्युत्पत्या लक्षणाख्या भवति ॥४॥

तथा च मुख्यार्थान्वयबोधबाधनिबन्धनत्वे सति रूढिप्रय
प्रयोज्यशक्यार्थसम्बन्धवत् तदतिरिक्तार्थप्रतिपादकशक्तित्वं

—(साहित्यदर्पणकार) विश्वनाथ लक्षणा का लक्षण करते हैं :—
यार्थ का बाध होने पर (अर्थात् अभिधा के द्वारा साक्षात् संकेतित
वाक्य में अभिमत तात्पर्य अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न होने पर)
के कारण अथवा किसी विशिष्ट उद्देश्य के कारण मुख्यार्थ से
त अन्य अर्थ जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, वह अर्पित अर्थात्
अर्थात् अस्वाभाविक शक्ति 'लक्षणा' कहलाती है ।।४।।

पणी—(१) नवीन लोग 'बाध' का अर्थ तात्पर्यानुपपत्ति करते हैं। वे
पपत्ति को लक्षणा का कारण नहीं मानते क्योंकि यदि अन्वयानुपपत्ति
णा का कारण माना जायेगा तो "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" इत्यादि
में लक्षणा न हो सकेगी क्योंकि यहाँ काक पद के अन्वय में कोई
त नहीं है। अतः मुख्यार्थबाध के दो अर्थ किये जा सकते हैं — (१)
पपत्ति और (२) तात्पर्यानुपपत्ति ।

) इस कारिका में लक्षणा के चार कारण बताये गये हैं :— (१)
बाध (२) तद्योग अर्थात् मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध (३)
र (४) प्रयोजन। इनमें से प्रथम दो का होना तो लक्ष्यार्थ ज्ञान के
र्वत्र परमावश्यक है किन्तु पिछले दो में से किसी एक (रूढि या
) का होना आवश्यक है। इसी बात को सूचित करने के लिये कारिका
शब्द के द्वारा इनका पृथक् पृथक् निर्देश किया है। इसप्रकार लक्षणा
त्ति में मुख्यार्थबाध, तद्योग और रूढि अथवा प्रयोजन में से कोई एक-ये
कारण माने गये हैं।

) लक्षणा को यहाँ पर शब्द की 'अर्पिता' शक्ति कहा गया है।
के समान 'सहजा' नहीं। काव्यप्रकाशकार ने भी लक्षणा को
रोपिता क्रिया' (२·९) कहकर 'आरोपिता क्रिया' ही कहा है।

) 'रूढे: प्रयोजनाद्वा' के आधार पर लक्षणा दो प्रकार की होती
:—(१) रूढिमूला लक्षणा और (२) प्रयोजनमूला लक्षणा।

(५) 'अर्पिता' का दूसरा अर्थ "मुख्यार्थत्यागवती'—मुख्य अ
करनें वाली भी किया गया है।

(६) लक्षणा का मुख्य लक्षण इसप्रकार है—यया अन्यो
असौ लक्षणा शक्तिः। शेष में से मुख्यार्थबाधे, तद्युक्तो और रूढेः प्र
ये तीन लक्षणा के हेतु हैं, जिनके होने पर ही केवल लक्षणा सम्भव
हैं, इनमें से किसी एक के भी अभाव में लक्षणा नहीं हो सकती है।
के द्वारा लक्षणा को अभिधा से पृथक् किया गया है।

मुख्यार्थस्य अन्वयानुपपत्तिग्रहे तदर्थसम्बन्धी अन्योऽर्थः रूढिप्रयो
तरस्मिन् हेतौ सम्भवति यया प्रतीयते, सा वृत्तिर्लक्षणा नाम।
प्रसिद्धिः, यथा—'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यत्र कलिङ्गशब्दो दे
स्वाभिधेयेऽर्थेऽसम्भवन् तद्देशवासिनः पुरुषान् बोधयति। प्रसि
हेतुः। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र च गङ्गाशब्दः प्रवाहविशेषरूपं स्व
बोधयितुमसमर्थः सामीप्यसम्बन्धसम्बन्धिनं तटं बोधयति। हेतुश्
त्वपावनत्वातिशयबोधनरूपं प्रयोजनम्।

टीका—मुख्यार्थस्य अन्वयानुपपत्तिग्रहे=मुख्यार्थस्य अ
सम्भवति इत्येवंरूपेण शब्दान्वयस्य अनुपपत्तिग्रहे—अनुपप
सति, रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्मिन्—रूढिप्रयोजनयोर्मध्ये ए
स्वाभिधेये=स्वेन-कलिङ्गशब्देन अभिधेये, स्वाभिधेयम्—र्थं
भिधेयम् सामीप्यसम्बन्धसम्बन्धिनम्=सामीप्यं-नित्यस
सम्बन्धेन सम्बन्धिनं—सम्बन्धवन्तम् हेतुः—लक्षणायां हेतुरि

अर्थ—मुख्यार्थ के अन्वय के घटित न होने से बाध होने पर
से सम्बन्धित अन्य अर्थ रूढि अथवा प्रयोजन में से किसी एक हेतु
जिस (शक्ति=वृत्ति) से प्रतीत होता है, वह वृत्ति लक्षणा नाम
है। 'रूढि' शब्द का अर्थ 'प्रसिद्धि' है। जैसे—कलिङ्गः साह

हरण में कलिङ्ग शब्द देशविशेषरूप अपने वाच्य अर्थ में (साहसी अर्थ घटित न होता हुआ (क्योंकि कलिङ्गदेश, जो जड़ है, साहसी, जो चेतन धर्म है, नहीं हो सकता है, अतः अपने वाच्यार्थ में असंगत है) कलिङ्ग में रहने वाले पुरुषों को लक्षित करता है (बोधयति)। इस (लक्ष्यार्थ) सिद्धि (रूढि) कारण है। और "गंगायां घोषः" इस उदाहरण में गंगा प्रवाहविशेषरूप अपने वाच्यार्थ (गङ्गा शब्द का अपना मुख्यार्थ है) का ज्ञान कराने में असमर्थ होता हुआ सामीप्य सम्बन्ध से (अपने) न्धी तट (अर्थ) का ज्ञान कराता है (बोधयति)। इस (तट अर्थ का ज्ञान) में शीतलता और पावनता का अतिशय ज्ञान कराना रूप प्रयोजन ा है।

टिप्पणी (१) तात्पर्य यह है कि रूढिलक्षणा के उदाहरण 'कलिङ्गः सिकः" इस वाक्य में कलिङ्ग शब्द का अपना अर्थ है देश-विशेष और सिकः' का अर्थ है साहसी। परन्तु साहस जड़ पदार्थों में नहीं रहा करता, देश के वाचक कलिङ्ग शब्द का साहसिक के साथ अभेदसम्बन्ध होना व है, अतः यह शब्द अन्वय में अपने मुख्यार्थ (देश) के बाधित होने के संयोग सम्बन्ध से उस देश के सम्बन्धी पुरुष का लक्षणा से प्रत्यायन ा है। इसीप्रकार "गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगा शब्द का मुख्यार्थ हविशेष। उसके ऊपर घोष का होना असम्भव है, अतः गंगा शब्द र्थ का अन्वय अनुपपन्न होने के कारण सामीप्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी लक्षणा से बोध कराता है। यह उदाहरण "प्रयोजनवती" लक्षणा ।

(२) कलिङ्ग देश जगन्नाथपुरी से पूर्वभागवर्ती कृष्णा नदी के किनारे रभागवर्ती है। सम्प्रति उत्कलप्रदेश के अन्तर्गत 'गञ्जाम्' नाम से है। सम्भवतः साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की यही जन्मभूमि है

क्योंकि उन्होंने स्वयमेव 'कलिंगराजसचिवः" ऐसा कहा है। क
गया है—

जगन्नाथात् पूर्वभागे कृष्णातीरान्तरे शिवेः, कलिङ्गदेश" इति है :—

(३) उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में जिस शक्ति के द्वारा हम 'कलि
अर्थ 'मनुष्य' और 'गङ्गा' का अर्थ 'तट' समझते हैं और अर्पित है वह
लक्षणा कही गई है।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ?
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे ?
सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥४॥

इयं हि कञ्चिदपकारिणं प्रत्युक्तिरिति मुख्यार्थस्यान्वय
वैपरीत्यसम्बन्धेन अपकारादिरूपमर्थं ज्ञापयति। अपकाराद्यतिशयद्यो
प्रयोजनम्।

टीका—बहुभिरपकारैस्तप्यमानस्य कस्यचिद्पकारिणं प्रति उ
उपकृतमिति –(हे) सखे–मित्र! (त्वया यत्) बहु उपकृतं तत्र-
विषये किमुच्यते-किं वाच्यम् बहुत्वाद्वक्तुम् न शक्यते इत्यर्थः; भ
केवलं सुजनता-सौजन्यं प्रथिता-प्रकटिता। ततः--यस्मात्सुजनता
तस्मात् ईदृशं (कर्म) एव सदा विदधत्–अनुतिष्ठन् ततः–विधा
शरदां–वर्षाणां शतं व्याप्य सुखितमास्व–सुखं तिष्ठ। [स च प्रकर
बुद्धापकारिभावं प्रतिबोधितः सन् विपरीतं लक्षयति।
उपकृतम्=अपकृतम्, सुजनता=दुर्जनता, सखे–शत्रो,
दुःखितमिति।] अपकाराद्यतिशयो व्यंग्यः॥

प्रवतरणिका—किसी व्यक्ति के द्वारा पौनः पुन्येन अनेकशः किये जाते पकारों से पीड़ित किसी व्यक्ति की अपने उस अपकारी व्यक्ति के प्रति है :—

र्थ—हे मित्र ! (तुमने मेरे साथ जो) अत्यधिक उपकार किया है उस र के) विषय में क्या कहा जा सकता है अर्थात् तुम्हारे वे उपकार धिक हैं कि वाणी से उनका कथन नहीं हो सकता है, तुमने (मेरे प्रति) सज्जनता (ही) प्रदर्शित की है, अत: (ततः) इसप्रकार के कामों को ही रते हुये तुम सौ वर्षों तक अर्थात् चिरकाल तक सुखी रहो।

ह किसी अपकारी के प्रति उक्ति है, अतः मुख्यार्थ का अन्वय उपपन्न सकने के कारण विपरीत सम्बन्ध से अपकारादिरूप अर्थ का ज्ञान है, यहाँ पर अत्यधिक अपकार को दिखाना (ही) प्रयोजन है।

प्पणी—(१) विपरीत लक्षणा से उक्त श्लोक का अर्थ इसप्रकार होगा— शत्रु ! तुमने मेरा अत्यधिक अपकार किया है, उस अपकार के विषय या कहूँ अर्थात् इतने अधिक अपकार हैं कि मैं उनको कह नहीं सकता मने मेरे प्रति केवल दुष्टता ही प्रदर्शित की है (जिसको कि सभी जानते ऐसा क्षण भर भी न करते हुये तुम इसी समय मर जाओ। यहाँ पर सखे शत्रु, उपकृतम् का अर्थ अपकार सुजनता का अर्थ दुर्जनता, सुखितम् मृत्यु को प्राप्त होना और शरदां शतम् का अर्थ सद्यः होगा।

) यह प्रयोजनमूलालक्षणा का दूसरा उदाहरण है।

) इस श्लोक में "द्रुतविलम्बित" छन्द है।

लक्षणाविभाग:—

इत्येवं सा द्विविधा रूढिमूला प्रयोजनमूला च ।
सेयं पुनर्द्विधा स्यादुपादानं लक्षणञ्चेति ॥

पादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा चेति सा लक्षणा पुनर्द्विविधा।

का —इत्येवम्—एवं प्रकारेण-सा-लक्षणा रूढिमूला प्रयोजनमूला

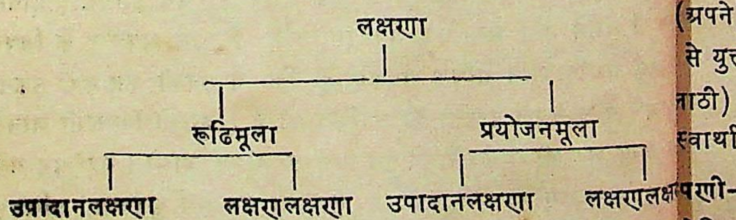
च द्विविधा–द्विप्रकारा । सा इयं–लक्षणा पुनः उपादानं–उपादानलक्षणं लक्षणं च–लक्षणलक्षणा च इति–इत्थं द्विधा–द्विप्रकारा (भवति

अवतरणिका—सम्प्रति लक्षणा की व्याख्या करने के उपरान्त उ को बताते हैं—

अर्थ–इसप्रकार वह लक्षणा रूढिमूला और प्रयोजनमूला (भे प्रकार की होती है। वह यह लक्षणा पुनः उपादानलक्षणा और लक्षण इस प्रकार दो प्रकार की होती है ॥५॥

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा – इसप्रकार यह लक्षणा प्रकार की होती है।

टिप्पणी—इसप्रकार लक्षणा के चार भेद हुये—



उपादानलक्षणा—

स्वसिद्धये पराक्षेपेऽसावुपादानलक्षणा । *

वाच्यार्थस्य अन्वयसिद्ध्यर्थं लक्ष्यार्थस्य बोधने उपादानादियमुपादानलक्षणा । यथा–"यष्टयः प्रविशन्ति" इ स्वतः प्रवेशक्रिययाऽन्वयासम्भवात् प्रवेशान्वयार्थं स्वसंयोगिनः पु ल्यन्ते । अत्र च स्वार्थस्यापरित्यागाद् इयम् 'अजहत्स्वार्था' इति

टीका—स्वसिद्धये=स्वस्य–मुख्यार्थस्य सिद्धये–अ पराक्षेपे=परस्य–लक्ष्यार्थस्य आक्षेपे–बोधने असौ–लक्षणा

(भवति)। तथा च मुख्यार्थसमेतलक्ष्यार्थबोधिका लक्षणा [पा]दानलक्षणेति तात्पर्यम्।

[यष्टि]संयोगिनः--यष्टिसंयोगिनः, अजहत्स्वार्था=न जहत्-त्यजन् [स्वार्थं]यामिति अजहत्स्वार्था-वाच्यार्थापरित्यागिनीत्यर्थः।

[अव]तरणिका--उपादानलक्षणा का लक्षण करते हैं--

[भे]--अपने मुख्यार्थ की सिद्धि के लिये (अपने से सम्बन्धित) दूसरे अर्थ का आक्षेप=ग्रहण कर लेने पर वह लक्षणा उपादानलक्षणा [होती]) है।

[मु]ख्यार्थ के अन्वय की सिद्धि के लिये लक्ष्यार्थ का ज्ञान कराने पर [स्वार्थ] का भी ग्रहण करने से (उपादानात्) यह (लक्षणा) उपादानलक्षणा [होती] है। जैसे--"लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं"--यहाँ पर लाठियों का [(क्योंकि] वे अचेतन हैं) स्वतः प्रवेश की क्रिया के साथ अन्वय असम्भव होने के [कारण] (अपने) प्रवेश के अन्वय की सिद्धि के लिये अपने से सम्बन्धित अर्थात् [लाठियों] से युक्त पुरुषों का आक्षेप कर लिया जाता है। और यहाँ पर अपने [अर्थ (ल]ाठी) का परित्याग न करने के कारण यह (उपादानलक्षणा) ["अजहत्]स्वार्था" भी कही जाती है।

[टिप्]पणी--(१) उपादानलक्षणा की व्युत्पत्ति=उपादानं--ग्रहणं [तदर्थं ल]क्ष्येति भावः, तेन लक्षणा उपादानलक्षणा अर्थात् उपादानलक्षणा [वह लक्ष]णा होती है जो अपने अर्थ का परित्याग किये बिना दूसरे लक्ष्यार्थ [का ग्रहण] कर लेती है। इसप्रकार मुख्यार्थ सहित लक्ष्यार्थ का ज्ञान कराने [वाली उ]पादानलक्षणा होती है।

[(२)] "यष्टयः प्रविशन्ति" इस उदाहरण में अचेतन होने के कारण [लाठियाँ] स्वतः प्रवेश नहीं कर सकती हैं, अतः अपने प्रवेशन क्रिया की सिद्धि [के लिये] "लाठियों को धारण किये हुये पुरुष"--ऐसा आक्षेप कर लिया जाता [है। परि]णामतः 'लाठियों को हाथ में लिये हुये पुरुष प्रवेश कर रहे हैं'--ऐसा

अर्थ लक्षणा से ग्रहण किया जाता है । यहाँ पर क्योंकि मूल अर्थ का परित्याग नहीं किया गया है और "पुरुषों" का आक्षेप कर लिय अतः "उपादानलक्षणा" है ।

(३) इसी "उपादानलक्षणा" को "अजहत्स्वार्था—जो अपने को नहीं छोड़ती है—लक्षणा" भी कहते हैं ।

(४) **उदाहरण के साथ लक्षण की संगति**—"लाठियाँ प्रवेश हैं"— यहाँ पर लाठियों के अचेतन होने के कारण उनका प्रवेशन क्रिय अन्वय घटित नहीं हो सकता है, अतः मुख्यार्थबाध हुआ । पुनः अ की सिद्धि के लिये "लाठी धारण किये हुये पुरुष" इसप्रकार ल ग्रहण करने के कारण "तद्योग=मुख्यार्थयोग" हुआ । रूढ़ि औ में से लक्षणा के अन्दर कोई एक कारण अवश्य होना चाहिये, अत "लाठियों का बाहुल्य" प्रतीत कराना प्रयोजन है । अपने मुख्यार्थ का नहीं किया, अतः "उपादानलक्षणा" है ।

लक्षणलक्षणा—

× परार्थमात्रबोधे तु भवेल्लक्षणलक्षणा ॥६॥

सर्वथा स्वार्थपरित्यागेनान्यार्थमात्रबोधने इयं लक्षणलक्षणा । 'जहत्स्वार्था' इति च भण्यते । यथा पूर्वोदाहृते—'उपकृतं बहु तत्र'

टीका—परार्थमात्रबोधे=परस्य—अन्यस्य, लक्ष्यस्येत्यर्थः स्य बोधे तु लक्षणलक्षणा भवेत् ॥६॥

असौ—लक्षणलक्षणा, जहत्स्वार्था=जहत्-त्यजन् स्वार्थो सर्वथा वाच्यार्थपरित्यागिनीत्यर्थः ।

अवतरणिका—लक्षणलक्षणा का लक्षण करते हैं :—

केवल पदार्थ=लक्ष्यार्थ का ज्ञान होने पर (मुख्यार्थ का लक्षणलक्षणा होती है ॥६॥

ने अर्थ का सर्वथा परित्याग कर देने से केवल अन्यार्थ का ज्ञान कराने लक्षणलक्षणा होती है। इसीलिये वह (लक्षणलक्षणा) "जहत्स्वार्था—अपने अर्थ का परित्याग कर दिया है—भी कहलाती है। जैसे—उदाहरण—"उपकृतं बहु तत्र" इत्यादि में।

प्पणी—(१) परार्थमात्रबोधे—यहाँ "मात्र" पद से मुख्यार्थ का रण किया गया है।

२) "तु" पद का ग्रहण "उपादानलक्षणा" का निराकरण करने के कया है।

३) लक्षणलक्षणा की व्युत्पत्ति=लक्षणेन—येन केनचित् सम्बन्धरूपेण त्यर्थः, लक्षणा—लक्षणलक्षणा अथवा लक्षणेन—स्वार्थसमर्पणेन उप-लक्षणा लक्षणलक्षणा।

४) इस लक्षणलक्षणा" को "जहत्स्वार्था—जिसने अपने मूल अर्थ को त्या है—लक्षणा" भी कहते हैं।

५) "उपकृतं बहु तत्र"—इत्यादि उदारहण में उपराकादि शब्द अपकारादि र्थ में परिणत हो गये हैं। यहाँ अपकारातिशय बताना प्रयोजन है।

६) उपादान और लक्षणलक्षणा में भेद :—

ार्थापरित्यागेन परमार्थोपस्थापनमुपादानम्। स्वार्थपरित्यागेन परमार्थो-नं लक्षणम्।

ञ्जनयाऽर्थबोधकः शब्दो व्यञ्जकः, तया बोध्योऽर्थो व्यङ्ग्यः।

वतरणिका—अभिधा और लक्षणा के अनन्तर क्रमप्राप्त व्यंजना का करते हैं।

र्थ—व्यंजनावृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द व्यञ्जक, उस (वृत्ति) के द्वारा बोध्य अर्थ व्यंग्य कहलाता है।

ञ्जनास्वरूपमाह—

'विरतास्वभिधाऽऽद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च' ॥७॥

[विश्वनाथः]

अभिधायां, लक्षणायाञ्च स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा विरतायां यया बोध्यते, सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम ।

टीका—अभिधाद्यासु—अभिधालक्षणातात्पर्यरूपासु तिसृष्वे विरतासु—स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा उपक्षीणासु सतीषु यया-अपरः—शक्यलक्ष्यतात्पर्यार्थभिन्नः व्यंग्यात्मकः अर्थः बोध्यते-सा शब्दस्य अर्थादिकस्य च वृत्तिः—शक्तिः व्यंजना—व्यज्य इति व्युत्पत्या व्यञ्जना नाम भवति ।।७।।

एतेन वाच्यादिभिन्नार्थ-प्रतिपादकशक्तित्वं व्यञ्जनात्वमिति फलितम् ।

अर्थ—व्यंजना का लक्षण कहते हैं :—

अभिधादिकों के (अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृ अपने अपने अर्थ का ज्ञान कराकर शान्त हो जाने पर (विरतासु) के द्वारा अन्य (वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्य से भिन्न) अर्थ का (व्यं कराया जाता है, वह शब्द में और अर्थादि में (रहने वाली) शक्ति (कहलाती) है ।।७।।

अभिधा और लक्षणा के अपने अपने अर्थ का ज्ञान करा के शान्त पर जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, वह नाम की वृत्ति होती है ।

टिप्पणी—(१) आचार्य विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य तात्पर्य ना को भी स्वीकार करते हैं, अतः आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना के उ में "अभिधाद्यासु" में बहुवचन का प्रयोग किया है । इसके विपरीत आचार्य इस वृत्ति को स्वीकार नहीं भी करते हैं । प्राचीन आचार्यों लक्षण इसप्रकार किया है—"तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने

(२) "शब्दस्यार्थादिकस्य च" से यह प्रतीत होता है कि व्यञ्ज मूला और अर्थमूला भेद से दो प्रकार की होती है ।

) "अर्थादिकस्य" में आदिपद से प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्गादि का
ता है। अर्थात् शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा
दिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना कहलाती है।

) यह 'व्यञ्जना' वृत्ति ध्वनन, गमन और प्रत्यायन आदि नामों से भी
होती है।

व्यञ्जनाविभागः—

दवदर्थोऽपि अर्थान्तरव्यञ्जकः, इति प्रथमतो द्विविधा व्यञ्जना— आर्थी च।

—व्यञ्जना के भेद—

द के समान अर्थ भी दूसरे शब्द की व्यञ्जना करने वाला होता है,
ति) सर्वप्रथम व्यञ्जना दो प्रकार की होती है—शाब्दी व्यञ्जना
र्थी व्यञ्जना।

शाब्दीव्यञ्जना भेदौ—

ब्दी च द्विविधा—अभिधामूला, लक्षणामूला च। यथाऽऽह विश्वनाथः—

'अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा'॥

ा—अभिधेति—शब्दस्य अभिधालक्षणामूला—अभिधालक्षणे
णे यस्याः सा व्यञ्जना द्विधा-द्विविधा भवति। अर्थात् शाब्दी-
ा द्विविधा, एका अभिधामूला, द्वितीया लक्षणामूला च।
न्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमभिधामूलत्वं लक्षणान्वयव्यतिरेका-
यित्वं च लक्षणामूलत्वम्।

—शाब्दी व्यंजना—

शाब्दी व्यंजना दो प्रकार की होती है—अभिधामूला और लक्षणा-
सा कि विश्वनाथ (साहित्यदर्पण २.१३) ने लक्षण किया है—
की अभिधा और लक्षणा है मूल में जिसके ऐसी व्यञ्जना दो प्रकार
है अर्थात (१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि शाब्दी व्यञ्जना दो होती है–(१) अभिधामूला व्यञ्जना और (२) लक्षणामूला व्यञ्जना से जो शब्द की अभिधा शक्ति पर आश्रित होती है, वह अभिधामूला और जो शब्द की लक्षणा शक्ति पर आश्रित होती है, वह लक्षणामूला होती है।

अभिधामूलां व्यञ्जनामाह विश्वनाथः—
अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाऽऽद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाऽऽश्रया' ॥६॥

टीका—अनेकार्थस्य—अनेके अर्था यस्य तादृशस्य शब्दस्य गाद्यैः—संयोग आद्यो येषु तैः एकत्र—एकस्मिन्नर्थे नियन्त्रिते सति (या)अन्यधीहेतुः=अन्यस्य अर्थस्य धीहेतुः–प्रतीतिकारण सा अभिधाश्रया-अभिधा आश्रयो यस्या इति अभिधाऽऽश्रया—मूला व्यञ्जना स्यात्। अर्थात् अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगा एकत्रार्थे नियन्त्रिते सति अन्यार्थविषयकबोधजनिका या व्यञ्जनाख्या इत्यर्थः ॥६॥

अर्थ—अभिधामूलक व्यंजना का लक्षण विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) ने इसप्रकार किया है—

अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में संयोगादि के द्वारा नियन्त्रित हो अन्य अर्थ की प्रतीति का कारण (जो) व्यंजना होती है वह अ (अभिधा शक्ति के आश्रित) समझनी चाहिये अर्थात् अभिधामू कहलाती है। (जहां पर संयोगादि नहीं होते है वहाँ जितने अर्थों के

तात्पर्य है, उतने ही अर्थ समझने चाहियें।)

णी—१. संयोगाद्यैः—यहां "आद्य" पद से विप्रयोग आदि का ना चाहिये, जिनका नीचे वर्णन किया जा रहा है।

ाकरणिक अर्थ का बोध कराकर अभिधा के विरत हो जाने पर णक अर्थ के ज्ञान कराने में व्यञ्जनावृत्ति अभिधा की अपेक्षा करती इसका नाम 'अभिधामूला व्यंजना' है।

ंयोगाद्याश्च—

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥'

—'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रसंयोगेन हरिः— विष्णुः। नागः' इति फणावियोगेन नागः—सर्पः। 'रामलक्ष्मणौ' मणसाहचर्येण रामः—दाशरथिः। 'रामार्जुनौ' इत्यत्र विरोधि- :—भार्गवः, अर्जुनः—कार्त्तवीर्यः। अर्थः—प्रयोजनम्। यथा— भज भवच्छिदे' इति भवच्छेदरूपप्रयोजनसम्बन्धेन स्थाणुः—शिवः, ाविहीनो वृक्षः। प्रकरणम्—प्रस्तावः। यथा—'यथाऽऽज्ञापयति देवः—भवान्, राजा वा। लिङ्गम्—विशेषकं चिह्नम्। यथा— मः' इति कपर्देन विशेषकेण भीमः—शिवः। अन्यस्य—प्रसिद्धार्थस्य, सन्निधिः—समभिव्याहारः। यथा—''स्थलारविन्दश्रियम्' इत्यत्र न्दसन्निधानेन श्रीः—शोभा। सामर्थ्यम्—शक्तिः। यथा—'मधुना किलः' इति मधुः—वसन्तः, तस्यैव कोकिलमादने सामर्थ्यात्। युक्तता। यथा—'गौरेका तु मनस्विनः' इत्यत्र औचित्येन गौः—

वाक् । 'भाति गगने चन्द्रः' इति गगनरूपेण देशेन चन्द्रः-- शशाङ्क विभावसुः इति विभावसुः--वह्निः, दिवसे तु सूर्यः । व्यक्तिः--स्त्रीपुं यथा--'मित्रं भाति' इति नपुंसकलिङ्गेन मित्रम्--बन्धुः । 'मित्रो मित्रः--सूर्यः । स्वराः--उदात्तादयो वेद एव प्रसिद्धाः ।

इत्थं संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थे नियमिते-- अर्थान्तरबोधनप्रतिरो एव व्यवस्थापिते, यथा अर्थान्तरं बोध्यते, सा अभिधामूला व्यञ्जना

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज

अथवा

आच्छादितायतदिगन्तरमुच्चकैर्गा-
माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम् ।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्?

[शिशु

प्रथमे---दक्षिणाशब्दस्य प्रकरणवशात् तदभिधानदिग्रूपेऽर्थे व्यञ्जनया दाक्षिण्यशीलनायिकारूपोऽर्थः, द्वितीये च--नगेशशब्दस्य रैवतकपर्वतरूपेऽर्थे नियमिते, व्यञ्जनया शिवरूपोऽर्थो बोध्यते ।

टीका--संयोग इति--संयोगः--सम्यक् योगः प्रसि इत्यर्थः विप्रयोगः--विरहः प्रसिद्धसम्बन्धध्वंसः त्यागो व र्य--सङ्गः विरोधिता--वैरम्, वध्यघातकभावः सहानव अर्थः--प्रयोजनम् प्रकरणं-प्रस्तावः लिङ्गं--सम्भाव्यमानो धर्मवि वा अन्यस्य--संदिग्धार्थभिन्नस्य शब्दस्य सन्निधिः--अ सामर्थ्य--शक्तिः औचिती-युक्तता देशः--आश्रयस्थानम् का व्यक्तिः--स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकम् स्वराः--उदात्तादिः--इत्यादयः

छेदे-अनिर्धारणे विशेषस्मृतिहेतवः=विशेषस्य-विवक्षितार्थस्य
तः-ज्ञानं तद्धेतवः-तज्जनका भवन्ति ।
थेति-एषां नियन्त्रणस्वरूपं क्रमादुदाहरणैर्दर्शयितुमादौ (१) संयो-
नियामकत्वमुदाहरति—सशङ्खेति-अत्र हरिर्विष्णुः सिंहादिर्वा
सन्देहे सति शंखचक्रसंयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेव अभिधत्ते ।
वियोगस्य नियामकत्वमुदाहरति—"फणहीनो नागः" इत्यत्र नागः
हस्ति वा इति सन्देहे सति फणवियोगे नागः—सर्पः इत्यर्थमेवा-
। (३) साहचर्यस्य नियामकत्वमुदाहरति-रामेति-अत्र "रामः पशु-
स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे । राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च
वत्" इति विश्वकोशाद्रामशब्दोऽनेकार्थकः । एवं सारसदुर्योधन-
। प्रसिद्धत्वाल्लक्ष्मणशब्दोऽप्यनेकार्थकः । तथा चात्र लक्ष्मण-
र्येण रामः दाशरथिः न भार्गवादिः । रामसाहचर्याच्च लक्ष्मणो
रसादिः । (४) विरोधिताया नियामकत्वमुदाहरति—रामेति-
अर्जुनविरोधात् रामो भार्गव एव न दाशरथ्यादिः । तद्वध्यत्वात्
र्जुनः कार्तवीर्य एव न पाण्डवादिः । (५) अर्थस्य नियामकत्व-
रति—स्थाणुमिति-अत्र स्थाणुः शाखादिहीनस्तरुः शिवो वेति
स्थाणुपदस्य शाखादिहीनस्तरुवाचकत्वे भवच्छेदरूपं प्रयोजनं न
। अतः स्थाणुः-शिव एव, प्रयोजनमत्र भवच्छेदः । (६) प्रकरणस्य
मकत्वमुदाहरति--यथेति-अत्र देवपदेन त्रिदशनृपयोः सन्देहे
वात देवो भवान् प्रकृतो राजा न तु कश्चित् त्रिदशः । अत्र
म्बोध्यकदूतकथाप्रकरणम् । (७) लिङ्गस्य नियामकत्वमुदा-
--कपर्दीति-अत्र भीमः पाण्डवादिः शिवो वा इति सन्देहे कपर्देन
पकेन भीमः-शिवः न तु पाण्डवादिः । (८) अन्यशब्द-

सन्निधेर्नियामकत्वमुदाहरति--स्थलेति-अत्र श्रीपदेन लक्ष्मी
सन्देहे स्थलारविन्दसन्निधानेन श्रीः-शोभा-इत्यर्थमेव पुष्णा
लक्ष्मीम् । (७) सामर्थ्यस्य नियामकत्वमुदाहरति--मधुनेति-
मद्यवसन्तयोः संशये मद्येन पिकस्य मत्तताया अप्रसिद्धत्वात् व
एव तस्याः पिके सुसम्भवात् मधुर्वसन्तो न तु मद्यम् । (१०) औ
नियामकत्वमुदाहरति--गौरिति-अत्र औचित्येन गौः-वाचमेव
भिधत्तो न तु पशुविशेषमर्थम् । (११) देशस्य नियामकत्वमुदा
भातीति-अत्र चन्द्रः कर्पूरः शशी वेति सदेहे शशिनो गगनदेश
चन्द्रः—शशाङ्क एव न तु कर्पूरः । (१२) कालस्य निया
मुदाहरति—रात्राविति--अत्र विभावसुः सूर्यो वह्निर्वेति
विभावसुः- वह्निरग्निरेव न तु सूर्यः, निशिकाले तस्यासम्भवात्
दिने तु विभावसुः—सूर्यः । (१३) व्यक्तेर्नियामकत्वमुदाहरति
मिति-अत्र मित्रपदेन बन्धुसूर्ययोः संदेहे नपुंसकलिङ्गेन मि
न तु सूर्यः तद्वाचकस्य पुंलिङ्गत्वात्, (परं) "मित्रो भाति" इत्य
लङ्गत्वात् मित्रः-सूर्य एवाधीयते न तु बन्धुः । (१४) स्वराः-उद
वेद एव प्रसिद्धाः, न काव्ये इति तस्य विषये नोदाहृतम् ।

इत्थम्-एवं संयोगादिभिः एकस्मिन्नर्थे नियमिते अर्थान्त
प्रतिरोधेन तन्मात्रे एव(अभिधया)व्यवस्थापिते—नियंत्रिते य
अर्थान्तरं बोध्यते--ज्ञाप्यते सा--व्यञ्जना अभिधामूला--अ
(भवति) । यथा--कुबेरगुप्तामिति—

कुमारसम्भवे मारस्य माराविजय प्रस्थानसमये आका
ताऽविर्भाववर्णनमिदम् । उष्णरश्मौ- सूर्ये, साहसिके नायके

णायनकालं, संगमकालं च विलङ्घ्य--व्यतिक्रम्य(पूर्वंव्यवस्थापितं नकालमतिक्रम्येत्यर्थः) कुबेरगुप्तां-धनपतिरक्षितां, कुत्सितशरीरेण त्सितं वेरं-शरीरं यस्य तेन) केनचिद्रक्षितां कामिनीं च दिशं-दिशाम् ीचीमित्यर्थः) स्त्रीलिङ्गाक्षिप्तां कांचित् नायिकां च गन्तुं--चलितुं, न्तुं च प्रवृत्ते —उद्यते सति दक्षिणादिक्—दक्षिणदिशा, दाक्षिण्य- (सुचरित्रा) काचित् नायिका च मुखेन – पुरोभागेन, वदनेन च वहं – वायुं व्यलीकनिःश्वासमिव – दुःखजनितदीर्घनिःश्वासमिव सर्ज–तत्याज ॥

(कुमारसम्भव ३, २५)

[अत्र प्रकरणेन उष्णरश्मिशब्देन सूर्यरूपे कुबेरशब्देन पतिरूपे दक्षिणाशब्देन तदाख्यदिग्रूपे मुखशब्देन प्रारम्भरूपे अर्थे धया नियन्त्रितेऽपि व्यञ्जनया उष्णरश्मौ–साहसिके पुरुषे रेण--कुत्सितशरीरेण केनचित् पुरुषेण गुप्तां-रक्षितां (कामिनीम्) प्रवृत्ते सति (तदीया) दक्षिणा – दाक्षिण्यवती कामिनी खेन – वदनेन दुःखनिःश्वासं त्यजतीति व्यङ्ग्यार्थोऽभि- ः ।]

उदाहरणान्तरमाह—आच्छादितेति – माघे रैवतकवर्णनाद् गृहीत- पद्यम् । आच्छादितायतदिगन्तरम्=आच्छादितं –व्याप्तम्– यतं – दीर्घं दिगन्तरं – दिग्भागो येन तम्, अन्यत्र आच्छादितं- तमायतं दिगन्तरमेव वासो येन तं तथोक्तं उच्चकैः– उन्नतां –भुवम् आक्रम्य—व्याप्य संस्थितं — वर्तमानम् (तथा) उदग्र- ालशृङ्गम्=उदग्राणि–उन्नतानि विशालानि–महान्ति च शृङ्गाणि- खराणि यस्य तम्, अन्यत्र उदग्रे विशाले शृङ्गे — विषाणे यस्य

तं उच्चकैः--उन्नतं गां--वृषभम् आक्रम्य-अधिष्ठाय संस्थितमि मूर्ध्नि--शिखरे अन्यत्र शिरसि स्खलत्तुहिनदीधितिको स्खलन्-पतन् तुहिनदीधितेः--इन्दोः कोटिः--रश्मिः, कला तम् एनं नगेशं-नगश्रेष्ठं रैवतकं गिरीशं च उद्वीक्ष्य भुवि- को न विस्मयते, सर्वोऽपि विस्मयत इत्यर्थः ।

(शिशुपालवधम्

(अत्र प्रकरणेन गोशब्देन पृथिवीरूपे शृङ्गशब्देन अग्र मूर्धशब्देन शिखररूपे नगेशशब्देन पर्वतरूपे अर्थे नियमिते व्य शिवरूपोऽन्यो व्यंग्यार्थः प्रकटित भवति । अतः व्यञ्जनेयम् मूला ।)

अर्थ—और संयोगादि (निम्नलिखित, हैं —

संयोग (अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध वियोग, साहचर्य (अभिन्नता के प्रतिपादन के लिये एक दूसरे की विरोधिता (वैर), अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग (विशिष्ट चिह्न), अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य (नियत शक्ति), औचिती जिसके उपस्थित होने पर श्रोता की जिज्ञासा निवृत्ताकांक्ष हो जाती काल, (निर्दिष्ट समय) व्यक्ति (शब्द के पुंस्त्वादि लिङ्ग) स्वर अनुदात्त और स्वरित) आदि—(ये सब) शब्द के अर्थ का निश्चय पर विशेष ज्ञान के कारण होते हैं (अर्थात् जब कहीं किसी अनेका का तात्पर्य सन्दिग्ध होता है, तब प्रकरणादि के द्वारा विशेष ज्ञान हो है) । यथा —

(१) **संयोग से नियन्त्रित अर्थ का उदाहरण**—'सशङ्खचक्रो हरिः' (हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं—यथा-'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशु शुकादिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः, परन्तु शंख, चक्र के

विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध (है, अतः) शंख और चक्र के योग से ब्द विष्णु का ही अभिधा से बोधन कराता है। **(२) विप्रयोग का** रण—'फणहीनो नागः' यहां पर 'नाग' का अर्थ सर्प है अथवा हाथी-न्देह होने पर फण के वियोग से 'नागः' का अथ 'सर्प' है। **(३) साहचर्य** दाहरण—'रामलक्ष्मणौ' यहां पर ('रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये षे। राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च वाच्यवत्' इस विश्वकोश के र राम शब्द अनेकार्थक है। इसीप्रकार लक्ष्मण शब्द के भी सारस दुर्योधन के पुत्रादि अनेक अर्थ हैं; परन्तु) लक्ष्मण के साहचर्य से राम का शरथ के पुत्र राम है (भार्गवादि नहीं और राम के साहचर्य से लक्ष्मण र्थ सारसादि नहीं लिया जा सकता है)। **(४) विरोध का उदाहरण**—र्जुनौ' यहां पर (अर्जुन के साथ) विरोध होने के कारण राम का अर्थ (परशुराम) ही है (दशरथ पुत्र राम नहीं इसीप्रकार परशुराम के वध्य होने के कारण) अर्जुन का अर्थ कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन) ही है डवादि नहीं)।

(५) **अर्थ का उदाहरण**—'अर्थः' का अर्थ प्रयोजन है। यथा—'स्थाणुं भवच्छिदे' यहां पर (स्थाणु का अर्थ ठूंठ है अथवा शिव है--ऐसा संदेह र यदि ठूंठ अर्थ लिया जायेगा तो संसार के आवागमन के चक्कर से ने का प्रयोजन घटित नहीं हो सकता है, अतः) संसारोच्छेदनरूप न के सम्बन्ध के कारण स्थाणु का अर्थ शिव है, शाखाओं से रहित ठूंठ) नहीं। (यहाँ संसार के आवागमन के चक्कर से छूट जाना प्रयोजन

(६) **प्रकरण का उदाहरण**—प्रकरण का अर्थ प्रस्ताव है। यथा—'यथाऽऽ-ति देवः' यहाँ (देवपद से देवता और राजा—इन दो अर्थों में से कौन सा है, ऐसा सन्देह होने पर) 'देवः' शब्द का अर्थ 'आप अथवा राजा' है कि प्रकरणगत राजा ही प्रकृत है कोई देवता नहीं। यहाँ पर कोई दूत राजा से कह रहा है-यह प्रकरण है)।

(७) **लिङ्ग का उदाहरण**—'लिङ्गम्' का अर्थ 'व्यावर्तक चिह्न' है। यथा-

'कपर्दी भीमः' यहाँ कपर्दी इस विशेषण से भीमः का अर्थ शिव है (नहीं) । (८) अन्यशब्दसन्निधि का उदाहरण—प्रसिद्धार्थक अन्य शब्द का सामीप्य; यथा-'स्थलारविन्दश्रियम्' यहाँ (श्री पद का अ अथवा लक्ष्मी है-ऐसा संदेह होने पर) स्थलारविन्द शब्द के सान्नि का अर्थ शोभा है (लक्ष्मी नहीं) । (६) सामर्थ्य का उदाहरण—'सा अर्थ शक्ति है; यथा 'मधुना मत्तः कोकिलः' इति, यहां पर (मधु वसन्त, मद्य आदि अनेक अर्थों का बोधक होने पर भी) मधुः का है (क्योंकि) वसन्त के अन्दर ही कोकिल को मस्त करने की साम कारण । (१०) औचिती का उदाहरण—'औचिती' का अर्थ युक्तता 'गौरेका तु मनस्विनः' यहाँ औचित्य के कारण गौः का अर्थ (गाय नहीं) । (११) देश का उदाहरण—'भाति गगने चन्द्रः' यहाँ अर्थ चन्द्रमा है अथवा कर्पूर-ऐसा संशय होने पर) आकाशरूप शब्द का अर्थ चन्द्रमा है (क्योंकि आकाश में चन्द्रमा ही रहता नहीं) । (१२) काल का उदाहरण—'रात्रौ विभावसुः' (विभा वह्नि सूर्यादि अनेक अर्थ होने पर भी प्रकृत में) 'विभावसुः' का अ (सूर्य नहीं क्योंकि रात्रि में उसका होना असम्भव है), दिन (विभावसु का अर्थ) सूर्य होगा (अग्नि नहीं) ।

(१३) व्यक्ति का उदाहरण–'व्यक्तिः, का अर्थ स्त्रीलिङ्ग-पुंलि है । यथा –'मित्रं भाति' यहां पर (मित्रम् शब्द) नपुंसकलि कारण 'मित्रम्' का अर्थ बन्धु है, (इसके विपरीत) 'मित्रो भाति' होने के कारण) 'मित्रः' का अर्थ 'सूर्य' होता है । (१३) स्वर–उदा और स्वरित–ये तीन स्वर वेद में प्रसिद्ध हैं (काव्य में नहीं, अतः उदाहरण नहीं दिया गया) ।

इसप्रकार संयोगादि के द्वारा एक ही अर्थ के नियन्त्रित हो अर्थात् द्वितीय अर्थ के ज्ञान को रोक देने के कारण एकमात्र व्यवस्थित कर दिये जाने पर, जिस वृत्ति के द्वारा दूसरे अर्थ का जाता है, वह अभिधामूला व्यंजना होती है । यथा कुबेरगुप्तामिति

अवतरणिका—कालिदासप्रणीत कुमारसम्भव (३·२५)

के शिवजी को जीतने के लिये प्रस्थान करने पर असमय में ही वसन्त आविर्भाव का वर्णन है। यह श्लोक द्व्यर्थक है, अतः इसके दोनों अर्थ थ ही दिये जा रहे हैं। इनमें से प्रथम अर्थ सूर्य के पक्ष में तथा दूसरा यक के पक्ष में घटित होता है।

र्थ—सूर्य के अन्यत्र साहसी नायक के दक्षिणायन का अन्यत्र मिलन ा अतिक्रमण करके कुबेर से परिपालित अन्यत्र कुत्सित शरीर वाले ायक से अधिकृत दिशा में (अर्थात् उत्तर दिशा में) अन्यत्र कामिनी के ने के लिये अन्यत्र समागम करने के लिये उद्यत होने पर दक्षिण दिशा त्र चरित्रशीला नायिका ने अग्रभाग से अन्यत्र मुख से वायु को दुःख दीर्घोच्छ्वास के समान छोड़ा। अर्थात् सूर्य के उत्तरायण होने पर वन चलने लगा।

हाँ पर प्रकरण के द्वारा उष्णरश्मि शब्द से सूर्य अर्थ में, कुबेर शब्द अर्थ में, दक्षिण शब्द से दक्षिण दिशा अर्थ में, मुख शब्द से अग्रभाग अभिधा के द्वारा नियन्त्रित होने पर भी व्यञ्जना के द्वारा इन शब्दों क-नायिका परक दूसरे अर्थों की प्रतीति होती है, जिससे दुस्साहसी के चरित्र की व्यञ्जना होती है)।

वतरणिका—अभिधामूलक व्यञ्जना का दूसरा उदाहरण देते हैं— दितेति' यह श्लोक भी द्व्यर्थक है, जिसके दोनों अर्थ साथ-साथ दिये जा इनमें से एक अर्थ रैवतक पक्ष में और दूसरा अर्थ शिव के पक्ष में होता है। यह पद्य माघप्रणीत शिशुपालवध (४-१९) महाकाव्य से किया गया है—

र्थ—लम्बी एवं विशाल दिशाओं के मध्यभाग को आच्छादित करने वाले दिशा रूपी वस्त्रों से अङ्गों को ढँकने वाले ऊँची पृथ्वी को व्याप्त कर त (तथा) अत्यन्त ऊँचे शिखरों वाले अन्यत्र विशाल सींगों वाले ऊँचे वर नामक) बैल की पीठ पर विराजमान शिखर पर अन्यत्र सिर पर

पड़ती हुई चन्द्रमा की किरणों वाले अन्यत्र चमकती हुई चन्द्रमा की पर्वतराज रैवतक अन्यत्र कैलाशपति शिव को देखकर पृथ्वी पर कौ नहीं होता है अर्थात् सभी विस्मित हो जाते हैं।

(यहाँ प्रकरण के द्वारा गो शब्द से पृथिवी अर्थ में, शृङ्ग शब्द अर्थ में, मूर्ध शब्द से शिखर अर्थ में और नगेश शब्द से पर्वतरूप अर्थ से नियन्त्रित हो जाने पर भी व्यञ्जना के द्वारा शिवरूप अर्थ की होती है। अतः यहाँ पर अभिधामूला व्यञ्जना है।)

प्रथम श्लोक में—"दक्षिणा" शब्द के प्रकरणवशात् दक्षिणदि में नियमित हो जाने पर व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा दाक्षिण्यशीला ना अर्थ की और द्वितीय पद्य में—'नगेश' शब्द के प्रकरणवशात् रैव पर्वतरूप अर्थ में नियमित हो जाने पर व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा शि की प्रतीति होती है।

टिप्पणी - (१) संयोगो विप्रयोगश्च—इत्यादि पद्य भर्तृह वाक्यपदीय (२.३१७-३१८) में है।

(२) "संयोगो विप्रयोगश्च"—इत्यादि पद्य में प्रयुक्त "स्व आदि पद से चेष्टादिकों का ग्रहण होता है।

(३) यद्यपि उदात्तादि स्वरों की अर्थ नियामकता वेदों में ह सकती है, काव्य में नहीं तथापि उदाहरण के लिये निम्न म जा सकता है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

पाणिनीय शि

यहाँ पर "इन्द्रशत्रुः" इस पद में "इन्द्रः शत्रुः शातयिता ऐसा बहुव्रीहि समास करने पर आदि पद उदात्त हो जाता है और

"इन्द्र ही जिस (वृत्रासुर) का मारने वाला है" । किन्तु इसके विपरीत शत्रुः"–ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर अन्तिम पद उदात्त होगा का अर्थ होगा "(वृत्रासुर ही) इन्द्र का मारने वाला है।"

) संयोग और साहचर्य के पारस्परिक भेद को पण्डित जगन्नाथ ने अपने र ग्रन्थ में (द्वितीय आनन) इसप्रकार स्पष्ट किया है —

योगशब्दस्य सम्बन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तं प्रसिद्धं सम्बन्ध-शक्तिनियामकं तदाद्यस्य, यत्र तु द्वन्द्वादिगतः सम्बन्ध्येव केवलस्तदा र्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयात्। इत्थं च सगाण्डीवोऽर्जुनः इति , गाण्डीवार्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम्।"

पि संयोग और साहचर्य इन दोनों का ही अर्थ सम्बन्ध सामान्य है, इन दोनों में अन्तर है। तद्यथा-जहाँ कोई भी सम्बन्ध शब्द द्वारा त होकर शक्ति का नियामक होगा, वहाँ संयोग और जहाँ द्वन्द्व आदि द्वारा केवल सम्बन्धी कहा जाता है वहाँ साहचर्य समझना चाहिये। दोनों में अन्तर है। इसप्रकार "गाण्डीव सहित अर्जुन"—ऐसा संयोग और "गाण्डीव और अर्जुन" ऐसा कहने पर साहचर्य होगा।

) "कुबेरगुप्ताम्"—इस पद्य के अन्दर 'उपजाति' छन्द है, तथा दतेति'—पद्य में 'वसन्ततिलका' छन्द है।

णामूलां व्यञ्जनामाह विश्वनाथ :—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
या प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाऽऽश्रया' ॥१०॥

स्यते—आश्रीयते, विधीयते इति यावत्। प्रत्याय्यते—बोध्यते। ङ्गायां घोषः' इत्यत्र प्रवाहविशेषरूपार्थबोधनादभिधायां, तटरूपार्थ-क्षणायाञ्च विरतायां, यया शीतत्वपावनत्वातिशयरूपं प्रयोजनं सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

टीका—लक्षणेति—यस्य-प्रयोजनस्य कृते--निमित्तो (य सूचनायेत्यर्थः) लक्षणा—प्रयोजनमूलकलक्षणा उपास्यते (शक्तित्वेन) अङ्गीक्रियते तत् तु प्रयोजनम् यया—वृत्त्या प्र बोध्यते सा लक्षणाऽऽश्रया—लक्षणामूला व्यञ्जना स्यात्।

एतेन लक्षणाहेतुभूतप्रयोजनबोधकत्वं लक्षणामूलव्यञ्ज फलतम्।

कारिकां विवृणोति--उपास्यत इति। यथा-'गंगायां घोष इत्यस्मिन् वाक्ये ('गंगायाम्' इत्यस्य पदस्य) प्रवाहवि बोधनात्=प्रवाहविशेषरूपस्य अर्थस्य बोधनात्-ज्ञापनात् (अभिधायाम्, (प्रवाहविशेषरूपे अर्थे च घोषाधारस्य "गंगायाम्" इत्यस्य पदस्य) तटरूपार्थबोधनात्=गंगातटरूप बोधनात् विरतायां लक्षणायां च (चकारात् तात्पर्य तात्पर्याख्यायां वृत्तौ विरतायाम्) यया—वृत्त्या शीतत्वपावन रूपं प्रयोजनं बोध्यते—प्रत्याय्यते सा—वृत्तिः लक्षणामूला-व्यञ्जना (कथ्यते)।

अर्थ—(उद्देश क्रम प्राप्त) लक्षणामूला व्यञ्जना का लक्षण (साहित्यदर्पण २.१५) करते हैं--

जिस प्रयोजन के लिये (प्रयोजनवती) लक्षणा (शब्दशक्तित्वे की जाती है, वह प्रयोजन जिस (वृत्ति) से बोधित किया लक्षणामूला व्यञ्जना होती है (दर्पण २·१५)।

"उपास्यते" का अर्थ आश्रय ली जाती है, विधान की "प्रत्याय्यते" का अर्थ है "बोधित किया जाता है"। जैसे="गं यहाँ पर ("गंगायाम्" का) प्रवाहविशेष (जलमय) रूप मुख्य

अभिधा शक्ति (के विरत हो जाने पर), और (किन्तु गंगा के प्रवाह में ष रह नहीं सकता है, अतः "गंगायाम्" पद का) गंगातटरूप (लक्ष्य) ा ज्ञान कराके लक्षणाशक्ति के विरत हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा के अन्दर विद्यमान) शीतलता और पावनता के आधिक्यरूप प्रयोजन का ोता है, वह लक्षणामूला व्यञ्जना होती है।

टिप्पणी – (१) उपासना (उपास्यते), आश्रयण (आश्रीयते) और (विधीयते)—ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं।

२) "लक्षणायाञ्च" में चकार से तात्पर्यनामक वृत्ति का ग्रहण होता है तात्पर्यार्थ का ज्ञान कराके तात्पर्याख्या वृत्ति के भी विरत हो र।

३) लक्षणामूलक व्यञ्जना के अन्दर उस प्रयोजन का प्रत्यायन कराया , जिसके कारण लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है।

) वस्तुतः स्थिति यह है कि यदि वक्ता का "गंगायां घोषः" कहने का त्र प्रयोजन है कि वह यह बताना चाहता है कि मेरा गांव गंगा के पर है, तब तो वह सीधा "गंगातटे घोषः" यही कह सकता था, ं घोषः" कहने की क्या आवश्यकता थी। परन्तु वह चाहता यह है ने वाला यह भी अनुभव कर ले कि मेरा गांव केवल गंगा के किनारे है अपितु गंगाजल के अन्दर जो शीतलता और पावनता है वह मेरे भी है। बस, इसी शीतत्व पावनत्वादि के अधिक्य की प्रतिति के लिये य कृते लक्षणा उपास्यते तत्तु प्रयोजनम्) उसने "गंगातटे" इस वाचक प्रयोग न करके "गंगायाम्" इस लाक्षणिक पद का प्रयोग किया प्रकार लाक्षणिक पदों के प्रयोगों में "लक्षणामूला व्यञ्जना" हुआ । इस शैत्यपावनत्वादि के अधिक्य की प्रतीति अभिधा के द्वारा सकती है क्योंकि "गंगायां घोषः" के अन्दर "गंगायाम्" पद का मुख्य ाप्रवाह में" है। लक्षणा के द्वारा भी इस शैत्यपावनत्वादि के अधिक्य

की प्रतीति नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर लक्षणा का लक्षण नहीं घटित हो सकता है। लक्षणा के लिये मुख्यार्थबाध, तद्योग और रूढिप्रयोजनान्यतरत्व होना चाहिये। लक्षणा के द्वारा शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति के लिये "गंगायाम्" का मुख्यार्थ "गंगातटे" होना चाहिये, जो कि सम्भव नहीं है। और यदि येन केन प्रकारेण "गंगायाम्" का मुख्यार्थ "गंगातटे" मान भी लें, तो फिर मुख्यार्थ का बाध नहीं होता है, जो कि लक्षण का अनिवार्य अङ्ग है क्योंकि "गंगा के किनारे" पर तो गांव रह ही सकता है। तीर का शैत्यपावनत्वादि के साथ कोई प्रयोजन भी नहीं है। अतः शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति के लिये व्यञ्जना को होना ही चाहिये और यह व्यञ्जना "लक्षणामूला" होती है।

आर्थीं व्यञ्जनामाह—

'वक्तृबोद्धव्यवाक्यानां काकोश्चेष्टाऽऽदिकस्य च।
वैशिष्टयादन्यमर्थं या बोधयेत् साऽर्थसम्भवा' ॥११॥

[विश्वनाथः]

सा अर्थसम्भवा—आर्थी, व्यञ्जनेति शेषः। यं पुरुषं बोधयितुं शब्द उच्चार्यते, स बोद्धव्यः। काकुः—ध्वनेर्विकारः। वैशिष्टयात्—विशेषयोगात्।

यथा—'गतोऽस्तमर्कः' इति वाक्येन आस्तिके द्विजातौ वक्तरि प्रतिपाद्ये वा 'सन्ध्यावन्दनस्यायमवसरः' इति; गोपालबालके वक्तरि प्रतिपाद्ये वा 'संह्रियन्तां गावो गृहं प्रतिनिवर्त्तामहे' इत्यादिका अर्था वक्त्रादिवैशिष्टयात् प्रतीयन्ते। यथा वा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ? ॥७॥
[वेणीस०]

अत्र 'मयि न योग्यः खेदः, कुरुषु तु योग्यः' इति काक्वा प्रकाश्यते ।

टीका—(शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वा) आर्थीं व्यञ्जनामाह—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानां=वक्ता—उच्चारयिता बोद्धव्यः—बोधनीयः पुरुषः वाक्यं—वक्तुर्वचनं च (साकांक्षाणां पदानां समूहो वाक्यम्) तेषाम् काकोः ध्वनिविकारविशेषस्य चेष्टादिकस्य—अङ्गभङ्ग्यादेश्च वैशिष्ट्यात्—वैलक्षण्यात् हेतोः या—वृत्तिः अन्यम्—अपरम् (वाच्यलक्ष्यभिन्नम्) अर्थं बोधयेत्—प्रत्याययेत् सः अर्थसम्भवा=अर्थात् सम्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशी, आर्थी इत्यर्थः (व्यञ्जना) अर्थः-तात्पर्यं तद्गतत्वादित्थमार्थी। (एवं वक्त्रादिवैलक्षण्य-हेतुका याऽन्यार्थधीस्तद्धेतुशक्तित्वमर्थव्यञ्जनात्वम्) ॥११॥

(विश्वनाथ २.१६)

कारिकां विवृणोति-अवसरः—समयः, संह्रियन्ताम्—निरुद्ध्यन्ताम्, वक्तादिवैशिष्ट्यात्—वक्तृवैशिष्ट्यात् बोद्धव्यवैशिष्ट्याद्वा ।

(काकुमुदाहरति)यथा-तथाभूतामिति-वेणीसंहारे (१.११) सहदेवं प्रति भीमस्योक्तिः—नृपसदसि—राजसभायां (न तु एकान्ते, नापि येषां केषांचित् सभायां किन्तु राज्ञाम्) तथाभूताम्—अनुभूतप्रकारां(केशाम्बर-योराकृष्टाम्, ऋतुमतीमेकवस्त्रामिति भावः) पाञ्चालतनयां=पञ्चा-लानां जनपदानां राजा तस्य (न तु साधारणव्यक्तेः) तनयां-द्रौपदी-मित्यर्थः, (तथा) वने—अरण्ये (द्वैतवने, न तु ग्रामे) वल्कलधरैः—

वृक्षत्वक्परिहितैः (न तु मृदुवस्त्रधारिभिः) व्याधैः—किरातैः (न तु शिक्षितपुरुषैः) सार्द्धं—सह सुचिर (न त्वल्पकालम्) उषित—स्थितं, (तथा) विराटस्य आवासे—सदने अनुचितारम्भनिभृतम्=अनुचितः य आरम्भः—कर्म (सूपकारत्वादिकमिति भावः) तत्र निभृतं-गुप्तं जनैरपरिज्ञातं यथा तथेत्यर्थः स्थितं (मां भ्रातरम्) दृष्ट्वा—प्रत्यक्षमुपलभ्य (न तु श्रुत्वा) गुरुः—आर्यः (युधिष्ठिरः) खिन्ने—सुदुःखिते मयि खेदं—क्षोभं भजति—आश्रयति (किन्तु) अद्यापि—इदानीमपि कुरुषु—(एवं क्लेशदायिषु) धार्तराष्ट्रादिषु न (खेदं भजति) ॥ कुरवस्तादृशनिकारकारिणोऽपि न राज्ञः खेदं जनयन्ति, निकारक्षुभितं मां दृष्ट्वा खेदं करोति राजा इत्यहो महच्चित्रम् ॥ (वेणीसंहार १.११)

अत्र - अस्मिन् पद्ये "मयि—भीमे खेदः—क्षोभः न योग्यः—युक्तः कुरुषु तु योग्यः" इति काक्वा प्रकाश्यते—व्यज्यते।

अर्थ—आर्थी व्यञ्जना का लक्षण कहते हैं—

वक्ता (कहने वाला), श्रोता, (जिससे बात कही जाये) और वाक्य के, काकु (गले की विशेष ध्वनि) के और चेष्टादिकों के वैशिष्ट्य से जो (वृत्ति) दूसरे (वाच्य-लक्ष्य से भिन्न) अर्थ का ज्ञान कराती है, वह अर्थ से उत्पन्न होने वाली आर्थी व्यञ्जना होती है (विश्वनाथ रचित साहित्यदर्पण २.१६) ॥

वह अर्थसम्भवा—आर्थी, "व्यञ्जना" यह पद शेष है। जिस पुरुष को ज्ञान कराने के लिये शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह 'बोद्धव्य (कहलाता) है, काकुः—ध्वनि का विकार, वैशिष्ट्यात्—विशेष सम्बन्ध से।

(वक्ता और बोद्धव्य का उदाहरण) जैसे—"गतोस्तमर्कः" अर्थात् सूर्य छिप गया—इस वाक्य से (वक्ता और बोद्धव्य से किसी) आस्तिक द्विजाति

(ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के वक्ता अथवा श्रोता होने पर "सन्ध्यावन्दन करने का यह समय है" इति, ग्वाले के बालक के वक्ता या श्रोता होने पर "गौओं को इकट्ठा करो, घर को लौटते हैं"—इत्यादि अर्थ वक्ता और श्रोता आदि के सम्बन्ध से प्रतीत होते हैं। अथवा जैसे—(काकु का उदाहरण) तथाभूतामिति —

अवतरणिका कविवर भट्टनारायण प्रणीत वेणीसंहार नामक नाटक (१·११) में सहदेव के प्रति भीम की उक्ति है :—

राजाओं की सभा में (कहीं एकान्त में नहीं और नहीं जिस किसी की सभा में अपितु राजाओं की सभा में) उसप्रकार की (अर्थात् ऋतुमती, एक-वस्त्रा और केशों से खींची जाती हुई) पञ्चाल राजा की (किसी साधारण व्यक्ति की नहीं) पुत्री अर्थात् द्रौपदी को, (तथा) द्वैतवन में (किसी ग्राम में नहीं) वल्कल वस्त्र धारण करने वाले (सुन्दर और कोमल वस्त्रों को धारण करने वाले नहीं) व्याधों के (शिक्षित पुरुषों के नही) साथ चिरकाल तक (दो-चार दिन तक नहीं) स्थित, (तथा) विराट के घर (सूपकारादि) अनुचित कर्मों को करने के द्वारा अत्यन्त गुप्त रूप से विद्यमान (मुझ छोटे भाई को) देखकर (सुनकर नहीं) आर्य युधिष्ठिर मेरे खिन्न होने पर क्षुब्ध हो रहे हैं (किन्तु) अब भी (इसप्रकार कष्ट देने वाले) कौरवों पर (क्षुब्ध) नहीं हो रहे हैं।

इस पद्य में (युधिष्ठिर का) "मेरे ऊपर क्षुब्ध होना उचित नहीं है, कौरवों पर (क्षुब्ध होना) तो ठीक है" यह अर्थ काकु ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

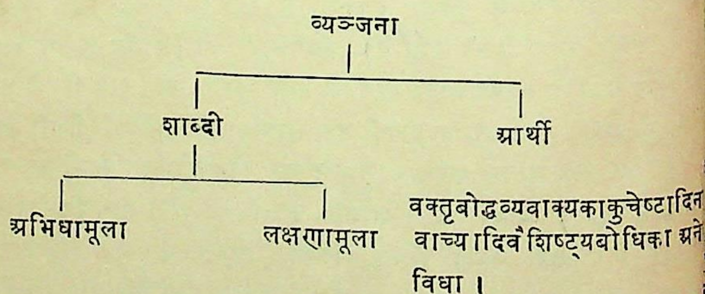
टिप्पणी—(१) "काकु" का लक्षण–"भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते" इति अर्थात् परिवर्तित कण्ठध्वनि को "काकु" कहते हैं। इसके भेदों को नाट्यशास्त्रादि ग्रन्थों से जानना चाहिये। अमरकोश में इसका लक्षण "काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः" किया गया है। यह काकु वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के प्रतीत होने वाले अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराता

है। इसी को इन शब्दों से कहा गया है | "काकुस्थले तु न नानार्थाभि नियमनं किंत्वपदार्थस्यैव व्यञ्जनम्"। इस काकु के भरत ने अपने नाट्यशा (१६·२२२) में दो भेद किये हैं—(१) साकांक्ष और (२) निराकांक्ष।

२. "चेष्टादिकस्य च" में आदि पद से वाच्य (अर्थ), प्रस्ताव (प्रकरण देश और काल का ग्रहण होता है।

३. 'तथाभूताम्'—इत्यादि पद्य में "शिखरिणी" छन्द है।

४. निष्कर्ष



शाब्दी व्यञ्जना "शब्दस्य परिवृत्यसहत्वाच्च शब्दमूलकत्वेन व्यपदेशः" शब्द पर आश्रित होती है क्योंकि शाब्दी व्यञ्जना के अन्दर हम किसी प्रयुक्त शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द नहीं रख सकते हैं, इसीलि इसको "शब्द परिवृत्यसह" कहा है।

इति शब्दार्थनिरूपणं नाम द्वितीयशिखा।

तृतीय-शिखा

रसनिरूपणम्

अथ रसनिरूपणम् —

अथ कोऽयं नाम रसः ? के च विभावादयः ? इत्याहुर्मम्मटभट्टपादाः—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥'

रत्यादेरित्यादिपदेन हासोत्साहादयो गृह्यन्ते । लौकिके उत्साहादीनां वक्ष्यमाणानां स्थायिभावानां यानि कारणानि—उत्पादकरूपाणि नायकप्रतिनायकादीनि, उद्दीपनरूपाणि—नायकप्रतिनायकचेष्टादीनि, यानि कार्याणि—विपक्षाभिमुखगमनादीनि, यानि च सहकारीणि—सहायभूतानि धृतिगर्वादीनि, तानि नाट्ये, काव्ये च चेन्निबध्येरन्, क्रमेण विभावाः, अनुभावाः, व्यभिचारिणश्च कथ्यन्ते । तैर्विभावादिभिर्व्यक्तः—स्फुटीकृतः, विलक्षणप्रतीतिविषयीकृत इति यावत्, स्थायी भावः रसः कथितः ।

टीका — कारणानीति-स्थायिनः—अविच्छिन्नप्रवाहस्य रत्यादेः—ललनादिविषयकप्रीत्यादेः (चित्तवृत्तिविशेषस्येत्यर्थः) (आदिपदेन हास्यादेर्ग्रहणम्) लोके-व्यवहारे यानि कारणानि-हेतुभूतानि [यान्यालम्ब्य रत्यादिराविर्भवति तानि ललनादिरूपाणि आलम्बनपदाभिधेयानि जनककारणानि (अर्थात् आलम्बनरूपाणि नायकप्रतिनायकादीनि) प्रादुर्भूते च तस्मिन् रत्यादौ यानि तस्य पुष्टिरूपोद्दीपनकारीणि चन्द्रोदयादीनि उद्दीपनपदव्यपदेश्यानि परिपोषकारणानि (अर्थात् उद्दीपनरूपाणि तच्चेष्टादीनि] अथ कार्याणि-रत्यादिजन्यानि कायिकवाचिकमानसिकभेदेन नानाविधानि कटाक्षभुजोत्क्षेपकाकूक्तिप्रभृतीनि

च सहकारीणि च-(रत्यादेरुल्लिखितकार्यस्य जनने झटिति प्रतीतौ सहायभूतानि (वक्ष्यमाणानि निर्वेदादीनि) तानि-कारणादीनि का नाट्ययोः=काव्यं—श्रव्यकाव्यं नाट्यम्—अभिनयात्मकं काव्यं त चेत्—यदा (निबध्यन्ते) (तदा क्रमेण) विभावाः=विभाव्यन्ते-का नाट्यनिवेशितत्वेन विलक्षणत्वेन भाव्यन्ते-प्रतीतिविषयीक्रि (सहृदयैरिति) विभावाः अनुभावाः=अनु-पश्चात् भवन्तीति अ भावाः (विभावत्वं गतानां नायकादीनां धर्मविशेषा इति यावत्) अथ अनुभावयन्ति - अनुभवपदवीमारोपयन्तीत्यनुभावाः व्यभिचारिण विशेषेण आभिमुख्येन—परिपोषकत्वेन चरन्तीति व्यभिचारिणि अथवा पोषकत्वेन विशेषेण काव्ये स्थायिनमभितश्चारयन्ति इति व्यभि चारिणः कथ्यन्ते-व्यवह्रियन्ते (रसज्ञैः) [अर्थात् कारणानि=विभाव कार्याणि=अनुभावाः, सहकारीणि=व्यभिचारिण इति कथ्यन्ते तैः विभावाद्यैः व्यक्तः—(व्यञ्जनाख्यया वृत्या) स्फुटतामापादितः स्थायी=तिष्ठतीति स्थायी यावत्सन्दर्भं स्थित इत्यर्थः (अविच्छिन्न प्रवाहः) भावः—चित्तवृत्तिविशेषः रसः (ध्वनिकारादिभिः) रस आम्नातः ॥ (काव्यप्रकाश ४.४३) ॥

कारिकां विवृणोति—रत्यादेरिति—

लौकिके-लोके, विलक्षणप्रतीतिविषयीकृतः=अलौकिकत्वेन बोधित इत्यर्थः ।

अर्थ—सम्प्रति रस का निरूपण करते हैं :—
यह रस क्या वस्तु है ? और विभावादि क्या हैं ? इसका लक्षण आचार्य मम्मटभट्ट (काव्यप्रकाश ४.४३) करते हैं:—

स्थायी (अविच्छिन्नप्रवाहशील) रति (प्रेम) आदि के (ललनादिविषयक प्रीति) लौकिक व्यवहार में जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे (कारण-कार्य-सहकारी कारण) काव्य और नाट्य में जब वर्णित किये जाते

हैं (तब क्रमशः) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं (अर्थात् कारण-विभाव, कार्य-अनुभाव और सहकारीकारण-व्यभिचारीभाव कहलाते हैं) उन विभाव अनुभाव, तथा व्यभिचारीभावों से (व्यञ्जना नामक वृत्ति के द्वारा) अभिव्यक्त=चर्व्यमाण=आस्वाद्यमान वह स्थायीभाव (रति ही) रस कहा गया है।

"रत्यादेः" यहां आदि पद से हास और उत्साह आदि का ग्रहण होता है। लौकिक व्यवहार में कहे जाने वाले उत्साह आदि स्थायीभावों के जो नायक प्रतिनायकादि आलम्बनरूप कारण (उत्पादकरूप), नायक तथा प्रतिनायक की चेष्टादि उद्दीपनरूप कारण, जो शत्रु का सामने जाना आदि कार्य और जो (इनके) सहायक धैर्य, गर्व आदि सहकारीकारण होते हैं, वे यदि नाट्य और काव्य में वर्णित किये जायें (तो) क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। उन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से व्यक्त=अभिव्यक्त किया हुआ=अलौकिक प्रतीति का विषय बनाया हुआ स्थायीभाव रस कहा गया है।

टिप्पणी— (१) उपर्युक्त कारिकाओं में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी-भाव तथा स्थायीभाव से रस की निष्पत्ति होती है, ऐसा कहा गया है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि लौकिक व्यवहार में रति आदि की उत्पत्ति में जो कारण, कार्य और सहायक कारण कहे जाते हैं, उनका यदि श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य (नाट्य) में वर्णन किया जाता है तो वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। अर्थात् रति आदि के कारण का नाम "विभाव" है। रति आदि के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक आलम्बनरूप और दूसरे उद्दीपनरूप। सीता-राम आदि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बनरूप कारण होते हैं क्योंकि सीता को देखकर राम के हृदय में प्रेमभाव जागृत होता है और राम को देखकर सीता के हृदय में उसीप्रकार की भावनायें उत्पन्न होती हैं। इस प्रीति या रति को उद्दीप्त करने वाली

चन्द्रिका, उद्यान, एकान्त स्थान तथा नदी-तीर आदि सामग्री को उद्दीपन विभाव कहा जाता है क्योंकि ये हृदय में विद्यमान रतिभाव को उद्दीप्त करते हैं। इसप्रकार आलम्बन और उद्दीपन-दोनों मिलकर स्थायीभाव को उद्दीप्त करते हैं।

१. **स्थायीभाव**–तिष्ठतीति स्थायी-यावत्सन्दर्भं स्थित इत्यर्थः अर्थात् वासना रूप में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से निरन्तर स्थिर रहने के कारण ये भाव स्थायी कहलाते हैं। रस की प्रक्रिया में आलम्बन और उद्दीपन विभाव को रस का कारण समझना चाहिये। वस्तुतः रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्यकारण स्थायीभाव ही है। स्थायीभाव मन के अन्दर स्थिर रूप से रहने वाले प्रसुप्त संस्कार हैं, जो अनुकूल आलम्बन और उद्दीपन रूप विभावों को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठते हैं और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का उच्चार कर देते हैं। ये संख्या में नौ हैं। इन स्थायीभावों की अभिव्यक्ति ही आस्वाद्यमान या रस्यमान होने से "रस" नाम से कही जाती है। इसीलिये "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावः रसः स्मृतः" कहा गया है। अर्थात् उन पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायीभाव को रस कहते हैं।

२. **विभाव**—रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं, जो दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन विभाव और २. उद्दीपन विभाव। जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है, उसको "आलम्बनविभाव" कहते हैं और जिसमें रस की उत्पत्ति होती है उसे "आश्रय" कहते हैं। जिन बाह्य कारणों से रति का उद्दीपन होता है, वे "उद्दीपन विभाव" कहलाते हैं। प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव पृथक्-पृथक् होते हैं।

३. **अनुभाव**—साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का लक्षण इसप्रकार किया है—

"उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ ३.१३२

अर्थात् अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से सीता-राम आदि के भीतर उद्‌बुद्ध रति आदि रूप स्थायीभाव को बाह्यरूप में प्रकाशित करने वाला रत्यादि का कार्यरूप काव्य और नाट्य में "अनुभाव" के नाम से कहा जाता है।

भरतमुनि ने इसका लक्षण इसप्रकार किया है—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ (नाट्यशास्त्र ७.५)

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव की आन्तरिक अभिव्यक्तिरूप अर्थ का बाह्यरूप में अनुभव कराता है, उसको "अनुभाव" कहते हैं। ये रसानुभूति के "अनु-पश्चात् भवन्ति-जायन्ते इत्यनुभावा:" बाद में होते हैं, रसानुभूति के कार्य होते हैं, इसलिये भी "अनुभाव" कहलाते हैं। अथवा अनुभूयन्ते-आत्मना प्रत्यक्षीक्रियन्ते इत्यनुभावाः अर्थात् अनुकार्य रामादि की रसानुभूति का अनुभव (अनुभाव) सामाजिकों को कराते हैं, इसलिये "अनुभाव' कहलाते हैं। लौकिक व्यवहार में कहे जाने वाले "कार्य" काव्य या नाट्य में "अनुभाव" कहलाते हैं। ये अनुभाव शारीरिक, वाचिक और मानसिक भेद से अनेक प्रकार के होते हैं, तद्यथा-कटाक्ष, भुजाक्षेपादि।

४. **व्यभिचारी भाव**— उद्‌बुद्ध हुये स्थायीभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं, उनको "व्यभिचारीभाव" कहते हैं। भरतमुनि (नाट्यशास्त्र, ७म अध्याय) ने व्यभिचारीभाव शब्द की निरुक्ति करते हुये लिखा है—

"व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह—व्यभिचारिणः कस्मात्। उच्यते वि अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधं आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेतः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते, लोकसिद्धान्त एषः यथा

सूर्यो इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत्, यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति । एवं व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः । तानिह संग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः ।

अर्थात् जो रसों में नानारूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं, उनको 'व्यभिचारीभाव' कहते हैं । इन व्यभिचारीभावों की संख्या ३३ मानी गई है । ये ३३ व्यभिचारीभाव सब रसों में मिलकर होते हैं । इनका रसों की दृष्टि से पृथक् २ वर्गीकरण नहीं किया गया है । दशरूपककार ने व्यभिचारीभाव का लक्षण इसप्रकार किया है-

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥४.७॥

दूसरा लक्षण—

'ये तूपकर्तुमायन्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् ।
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मताः व्यभिचारिणः ।

व्यभिचारीभाव की व्युत्पत्ति:—वि—विशेषण अभि-आभिमुख्येन चरणात्-प्रचरणाद् व्यभिचारिणोभावाः ।

(२) रस की प्रक्रिया में वासनारूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभावों को विभाव आस्वाद के योग्य बनाते हैं (रत्यादीन् स्थायिनः विभावयन्ति-आस्वादयोग्यतां नयन्तीति विभावाः), तदनन्तर अनुभाव उन स्थायीभावों को [सहृदय सामाजिकों के लिये] अनुभव के विषय बनाते हैं [रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति-अनुभवविषयीकुर्वन्ति इति अनुभावाः] और व्यभिचारीभाव उनको विशिष्ट रूप से पौनः पुन्येन अभिव्यक्त करते हैं [विशेषेण अभितः—सर्वाङ्गव्यापितया रत्यादीन् स्थायिनः कार्ये व्यभिचारयन्ति—संचारयन्ति—मुहुर्मुहुरभिव्यञ्जयन्तीति व्यभिचारिणः

थवा "विशेषेण अभितः—आभिमुख्येन कार्यजनने आनुकूल्येन चरन्तीति
र्यभिचारिणः] । इसप्रकार सहृदय सामाजिक को रस की अनुभूति होती है।

(३) सहकारिणि—यद्यपि काव्यशास्त्र से भिन्न स्थलों पर "सहकारि"
द का अर्थ कारण ही होता है, तथापि यहाँ पर अपनी उपस्थिति से शीघ्र
ी ये रत्यादि का ज्ञान करा देते हैं अतः इसका अर्थ "रत्यादि का विशेष
ार्य" ही समझना चाहिये। तथा आगे कहे जाने वाले निर्वेदादि ३३ व्यभि-
ारिभावों का ही ग्रहण करना चाहिये।

(४) रत्यादे :—यहाँ पर आदि पद से—

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥

में वर्णित हासादि आठ स्थायीभावों का तथा शान्तरस के स्थायीभाव
नेर्वेद का ग्रहण करना चाहिये।

(५) "रत्यादेः स्थायिन :—यहाँ पर यद्यपि "रत्यादेः" मात्र से ही रति
आदि का स्थायित्वरूप प्रयोजन सिद्ध हो सकता था, (क्योंकि रति आदि
स्थायीभाव ही हैं, कुछ और नहीं अतः केवल नाम कथन से ही स्थायिता की
प्रतीति हो सकती थी) पुनरपि "स्थायिनः" का ग्रहण यह प्रतिपादन करने
के लिये किया है कि रति आदि, जो किसी एक रस में स्थायीभाव हैं वे ही
किसी दूसरे रस में जाकर अस्थायी हो जाते हैं और व्यभिचारीभाव कहलाते
हैं। तद्यथा—हास्य और रौद्र रस के क्रमशः स्थायीभाव हास और क्रोध
शृङ्गार और वीरादि रसों के अन्दर जाकर स्थायीभाव न कहलाकर व्यभि-
चारीभाव ही होते हैं।

(६) व्यभिचारीभावों को "सञ्चारीभाव" के नाम से भी कहा जाता
है।

(७) "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावः रसः स्मृतः"—इस रस की

प्रतीति किसी के मतानुसार "व्यञ्जनरूप" होती है और किसी के मतानुसार "साक्षात्काररूप" होती है।

(८) यद्यपि नायकादिकों के हृदय में रत्यादिभाव विद्यमान रहते हैं अतः रसानुभूति उन्हीं को होनी चाहिये, परन्तु तथापि काव्यार्थ की भावना के द्वारा रस की प्रतीति सामाजिकों के हृदय के अन्दर होने लगती है। कहने का आशय यह है कि काव्यादि के सुनने से अथवा नाटक के देखने से आलम्बन उद्दीपन विभावों, भ्रूविक्षेप-कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद-ग्लानि आदि ३३ संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासनास्वरूप रति, हास, शोकादि स्थायीभाव शृंगार, हास्य और करुण आदि रसों के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

(९) नाट्यशास्त्र के प्रणेता ख्यातनामा भरतमुनि रससिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक हैं। उनका मूल सूत्र है :—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः"- अर्थात् विभाव (नायक, नायिका आदि आलम्बन और वीणावादन चन्द्रज्योत्स्ना, मलयसमीर आदि उद्दीपन) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्पादि भावसूचक शारीरिक विकार और चेष्टायें) व्यभिचारिभाव (द्वेष, मद उत्कण्ठा, असूयादि स्थायीभाव के सहचारीभाव) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसमें "संयोग" और "निष्पत्ति" से भरतमुनि का क्या तात्पर्य है यह ठीक-ठीक निश्चितरूपेण विदित नहीं होता। अतः इस मूल सूत्र की अपनी प्रतिभा के उन्मेष से व्याख्या करने वाले विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। उनमें से प्रमुख चार आचार्यों ने—भट्टलोल्लट—शङ्कुक—भट्टनायक—अभिनवगुप्ताचार्य—क्रमशः मीमांसा; न्याय, सांख्य और अलंकार को आधार मानकर व्याख्या की है। अतः इन चारों आचार्यों का अपना मत क्रमशः "उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद" कहलाता है।

रसभेदा :—

तद्विशेषानाह—

आदिमो "हास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ काव्ये रसाः स्मृताः ॥" [मम्मटः]

टीका—तद्विशेषान्=तस्य-रसस्य विशेषान्-भेदान् आह ।

आदिमः—शृंगार इत्यर्थः, हास्य, करुणः, रौद्रः, वीरः, भयानकः, बीभत्सस्तथा अद्भुतः—इति [भेदेन] काव्ये-नाट्ये अष्टौ-अष्टसंख्यका रसाः स्मृताः ॥ काव्यप्रकाशः ४·४४

अत्र (१) रतिः—स्थायिभावकः कान्ताद्यालम्बनकः स्रक्चन्दनाद्युद्दीपितः कटाक्षाद्यनुभावितो व्रीडादिसंचारितः शृंगारः ।

(२) हासस्थायिभावको विकृतकृदालम्बनको वैकृताद्युद्दीपितो गल्लफुल्लाद्यनुभावितः श्रमादिसंचारितो हास्यः ।

(३) शोकस्थायिभावको मृताद्यालम्बनकस्तद्गुणाद्युद्दीपितो रोदनाद्यनुभावितो दैन्यादिसंचारितः करुणः ।

(४) क्रोधस्थायिभावको द्विषदालम्बनकस्तदपकाराद्युद्दीपितो विकत्थनाद्यनुभावितो गर्वादिसंचारितो रौद्रः ।

(५) उत्साहस्थायिभावको द्विषद्विद्वज्जनदीनालम्बनकोऽपकारगुणापदुद्दीपितः प्रतीकारकरणदानाद्यनुभावितो हर्षावेगचिन्तादिसंचारितो वीरः ।

(६) भयस्थायिभावको विकटाद्यालम्बनकस्तद्विकटकर्माद्युद्दीपितः पलायनाद्यनुभावितो जडतादिसंचारितो भयानकः ।

(७) जुगुप्सास्थायिभावको विण्मूत्राद्यालम्बनको दुर्गन्धाद्युद्दीपितो निष्ठीवनाद्यनुभावितो ग्लान्यादिसंचारितो बीभत्सः ।

(८) विस्मयस्थायिभावको विस्मयजनककर्मकर्त्रालम्बनको विस्मयकर्माद्युद्दीपितश्चकितताद्यनुभावितो हर्षादिसचारितोऽद्भुतः ॥

अर्थ—रस के भेदों का वर्णन करते हैं :—

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत न वाले-इसप्रकार आठ नाट्य (काव्ये) में रस माने गये हैं।

टिप्पणी—(१) प्रकाशित काव्यप्रकाश में उक्त कारिका इसप्र उपलब्ध होती है :—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्साद्भूतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥४.४४.

इसप्रकार 'काव्यदीपिका' में 'शृङ्गार' के स्थान पर 'आदिमः' 'नाट्ये' के स्थान पर 'काव्ये' मिलता है। इसीलिये काव्यदीपिका में प्र 'काव्ये' की व्याख्या 'नाट्ये' की गई है।

(२) कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि केवल एक 'शृङ्गार' ही र और कोई रस नहीं। कुछ आचार्यों के मतानुसार १२ रस होते हैं औ इसके अन्दर शान्त, प्रेयांस, दान्त और उद्धत—इन चार का भी समावेश लेते हैं। इनके अनुसार **प्रेयांस का लक्षण**—"स्नेहप्रकृतिकःप्रेयांसः" है। को "वात्सल्य रस" समझना चाहिये। **दान्त का लक्षण**—"धैर्यस्थायिभाव दान्तः" है और उद्धत का "गर्वस्थायिभावक उद्धतः" लक्षण है। किन्तु इ विपरीत आचार्य मम्मट नाट्य में आठ ही रस स्वीकार करते हैं।

(३) "अष्टौ काव्ये रसाः स्मृताः" कह कर उक्त कारिका के द्वारा ही रस हैं, इसका प्रतिपादन किया गया है। इसप्रकार "अभिलाषस्थायि **लौल्यरसः**, श्रद्धास्थायिको **भक्तिरसः** और स्पृहास्थायिकः **कार्पण्याख्यो** रस लौल्य, भक्ति और कार्पण्य—इन तीन रसों का निराकरण किया गया जिन आचार्यों ने "प्रेयांस, दान्त और उद्धत" रस माने हैं, उनके विषय मम्मट का विचार है कि ये तीनों रस न होकर "संचारीभावों" के अन्त आते हैं। इसीप्रकार "लौल्य, भक्ति और कार्पण्य" भी भाव के अन्त आते है, इनको रस नहीं मानना चाहिये। स्नेह, भक्ति और वात्सल्य ये रति की ही भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं क्योंकि समान व्यक्तियों

पारस्परिक रतिभाव "स्नेह' कहलाता है, आयु में कम व्यक्ति का अपने से बड़े व्यक्ति के प्रति रतिभाव "भक्ति" और बड़े व्यक्ति का अपने से आयु में छोटे व्यक्ति के प्रति रतिभाव "वात्सल्य" कहलाता है। कुछ अन्य आचार्यों का यह विचार है कि स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, मैत्री और आबन्ध ये रति के ही विशेष भेद हैं। तद्यथा--"तुल्ययोर्मिथो रतिः स्नेहः (प्रेमेति यावत्)। तयोरेव निष्कामतया मिथो रतिर्मैत्री। अवरस्य वरे रतिर्भक्तिः सैव विपरीता वात्सल्यम्। सचेतनानामचेतने रतिराबन्ध (लोभ) इति। रसगङ्गाधर के प्रणेता पंडितराज जगन्नाथ "भक्तिरस" रस क्यों नहीं है? इसका विवेचन करते हुये कहते हैं:—

"अथ कथमेत एव रसाः? भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥

(प्रथमाननम्)

इति हि प्राचां सिद्धान्तात्।

अर्थात् रस इतने (नौ) ही क्यों है? क्योंकि भागवत आदि पुराणों का श्रवण करते समय भक्तजन जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं, वह 'भक्ति' नामक दशम रस भी अपलाप करने योग्य नहीं है। साक्षात् भगवान् उस रस के आलम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमाञ्च-अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं। तथा इसका स्थायीभाव है भगवान् के विषय में प्रेमरूप भक्ति। यदि कोई यह कहे कि "भक्तिरस" का अन्तर्भाव शान्त रस में ही हो जायेगा, अतः वह अतिरिक्त रस नहीं है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'भक्तिरस' का स्थायीभाव अनुराग है और शान्तरस का वैराग्य (निर्वेद), जो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, फिर उन दोनों स्थायीभावों

को आधार बनाकर होने वाले "भक्ति" और 'शान्त' रसों में से कोई दूसरे के अन्तर्भूत नहीं हो सकता।

सम्प्रति इसका समाधान करते हैं, उच्यते इति—देवता आदि के विषय जो रति (प्रेम) होती है, उसीको भक्ति कहते हैं, अतः वह भाव है, रस क्योंकि देवता आदि के विषय में होने वाली रति और व्यञ्जना वृत्ति से ज्ञ हुये व्यभिचारीभाव 'भाव' कहलाते हैं और अनुचित रीति से प्रवृत्त तथा भाव क्रमशः "रसाभास" और "भावाभास" कहलाते हैं। यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है।

अतः "भक्तिरस" रस नहीं है, अपितु "भाव" है।

(३) **शान्तरस**—श्रव्य काव्य के अन्दर "शान्तरस" भी नौवां स्वीकार किया गया है, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा, किन्तु अभिनयात्म नाट्य में सम्पूर्ण विषयों का उपरम हो जाने रूप शान्तरस का अभिनय सम्भव नहीं है, अतः अभिनय प्रधान नाट्य में "शान्तरस" को स्वीकार नहीं किया जाता है। इस शान्तरस का अभिनय इसलिये सम्भव नहीं है क्योंकि इस रोमाञ्चादि का अभाव होता है। इसीप्रकार संगीत, वाद्य आदि इस शा रस के विरोधी हैं। परिणामतः अनभिनेय होने के कारण इसे नाट्य की दृ से रस के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। दशरूपककार (४.३५,३ कहते हैं :—

शममपि केचित्प्राहुःपुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।। ४·३५
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।।४·३६

कहने का आशय यह है कि सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत न होने वाला 'स्थायीभाव' कहलाता है परन्तु शान्त रस के स्थायीभा शम में स्थायीभाव का यह लक्षण घटित नहीं होता है, अतः निर्वेदादि अस्थायी भाव हैं। अस्थायीभाव होने के कारण इसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। और यदि होगी भी तो वह केवल विरसता को ही उत्पन्न करेगी। अ नाट्य की दृष्टि से 'शान्त' को रस नहीं माना जा सकता है। कहा भी है :

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न कदाचिदिच्छा ।
रसः प्रशान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

एषां क्रमेणोदाहरणानि ।
आद्यस्य,— शृंगाररस —
विवृण्वती शैलसुताऽपि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्य्यस्तविलोचनेन ॥ ६ ॥ (कुमा०)

टीका----एषां-रसानाम् । आदिमस्य-प्रथमस्य, शृंगारस्येति यावत् । विवृण्वती इति—

शैलसुता=शैलस्य—हिमालयस्य सुता-तनयाः पार्वतीत्यर्थः अपि स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः=स्फुरन्ति--विकसन्ति यानि बालकदम्बानि-अभिनवकदम्बपुष्पाणि तेभ्यः कल्पानि--ईषदूनानि तैः कदम्बकुसुम-सदृशैरित्यर्थः (सञ्जातरोमाञ्चैरिति भावः), अङ्गैः—अवयवैः भावं-रत्याख्यं विवृण्वती—प्रकाशयन्ती पर्यस्तविलोचनेन=पर्यस्ते—परितः क्षिप्ते (हरादन्यस्मिन् चालिते इत्यर्थः) विलोचने—नेत्रे यस्य तादृशेन (अतएव) चारुतरेण—अतिमनोहरेण मुखेन साचीकृता—वक्रीकृता (लज्जया परिवृत्तमुखीति भावः) सती तस्थौ--स्थिता ॥

[कुमारसम्भव ३.६८]

[अत्र स्थायिभावरूपा रतिः शङ्कररूपविभावेन, पार्वत्याश्च अङ्गानां रोमाञ्चोदयरूपानुभावेन, पर्यस्तविलोचनत्वादिना लज्जारूप-व्यभिचारिभावेन परिपुष्टा शृंगाररसत्वमापद्यते इति]

अर्थ—इन (रसों) के क्रमशः उदाहरण देते हैं ।
शृंगाररस का (उदाहरण) —
हिमालय की पुत्री (पार्वती) भी विकसित नवीन कदम्ब के समान (अर्थात् रोमाञ्चित) अङ्गों से रति नामक भाव को प्रकाशित करती हुई (शिव जी से भिन्न अन्यत्र) चारों तरफ घुमाये हुये नेत्रों वाले अत्यन्त सुन्दर मुख को थोडा फेर कर खड़ी रही ।

टिप्पणी—(१) यहां पर रति स्थायीभाव है । शंकर आलम्बन विभाव है । पार्वती के अंगों में रोमाञ्च का होना अनुभाव है । लज्जा से मुख को

घुमाकर खड़ा हो जाना व्यभिचारीभाव है। इसप्रकार विभाव, अनुभाव संचारीभावों से परिपुष्ट स्थायीभाव रति सहृदय सामाजिकों के लिये शृं रस को पुष्ट कर रही है।

(२) शैलसुता अपि–यहाँ 'अपि' का यह भाव है कि केवल शिवजी के में ही रति भाव जागृत नहीं हुआ अपितु पार्वती जी के भी हुआ।

(३) 'स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः'––में ईषद् न्यून अर्थ में 'कल्पप्' प्रत्यय

(४) उक्त पद्य में 'उपजाति' वृत्त है।

(५) शृंगार की व्युत्पत्ति ––शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
पुरुषप्रमदाभूमिः शृङ्गार इति गीयते ॥

आलम्बन विभाव –परोढां वर्जयित्वा तु वेश्याञ्चाननुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥

उद्दीपन विभाव ––चन्द्रवन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्।

अनुभाव ––भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥

व्यभिचारीभाव ––त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः।

स्थायीभाव, वर्ण और देवता—
स्थायीभावो रतिः श्यामवर्णोऽथ विष्णुदैवतः ॥

हास्यस्य —

भिक्षो ! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना ?
मद्यञ्चापि तव प्रियम् ? प्रियमहो ! वाराङ्गनाभिः सह।
तासामर्थरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा,
चौर्य्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः ? नष्टस्य काऽन्या गतिः ॥ १० ॥

टीका––भिक्षो इति––कश्चित्परीहासप्रियो भिक्षुं पृच्छति, स स्वोत्तरं हासेनैव वदति, इति भिक्षुविषयिण्योरुक्तिप्रत्युक्ती। हे भि संन्यासिन् ! मांसनिषेवणं--मांसभोजनं प्रकुरुषे–विदधासि ? (इत्युक्ति मद्यं-सुरां विना तेन-मांसेन किम् ? न किमपीत्यर्थः [विना मद्यं मां भोजनं वृथेत्यर्थः, इति प्रत्युक्तिः) मद्यं-सुरा चापि तव-तुभ्यं-प्रियं-प्रीतिकर

(इत्युक्तिः), अहो, वाराङ्गनाभिः—वेश्याभिः सह-साधं प्रियं (मद्यम्, केवलं मद्यं मम न प्रियम् अपितु वाराङ्गनाऽऽमोदसहितं मद्यं मम प्रियमित्यर्थः, इति प्रत्युक्तिः)। तासां–वाराङ्गनानाम अर्थरुचिः=अर्थे-रुचिः--अभिलाषः (विना धनं ताः न प्रसीदन्तीति भावः), तव पार्श्वे धनं–द्रव्यं कुतः---धनं नास्तीत्यर्थः (भिक्षुत्वादिति भावः, इति उक्तिः) ? द्यूतेन---द्यूतक्रीडया, चौर्येण--स्तेयव्यापारेण वा (धनमुपार्ज्यते मया, इति प्रत्युक्तिः)। भवतः--तव चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि=चौर्यद्यूतयोः--स्तेयद्यूतयोः परिग्रहः--स्वीकार अपि--किम् (इत्युक्तिः) नष्टस्य--दुर्वृत्तस्य मनुष्यस्य अन्या--चौर्यद्यूतादपरा का गतिः--सरणिः, नैवेत्यर्थः ॥

(अत्र तथाविधभिक्षुरालम्बनविभावः, तस्य च मांसनिषेवणादिकमनुभावः, तत्तत्कार्यप्रवृत्तिकीर्तनेनाऽऽक्षिप्ता चपलता व्यभिचारिभावः, एतैः परिपुष्टो हासस्थायिभावश्च आस्वादपदवीं गतः सहृदयानां हास्यरसत्वमापद्यते।)

अर्थ—हास्य (रस) का (उदाहरण)—

अवतरणिका—परिहासप्रिय कोई व्यक्ति किसी संन्यासी से प्रश्न कर रहा है, वह संन्यासी भी उसके हास्यभाव को जानकर हंसी में ही उत्तर दे रहा है। यह इन दोनों का उत्तर—प्रत्युत्तर ही इस श्लोक में वर्णित है :—

(प्रश्न) हे भिक्षुक, (क्या) तुम मांस का सेवन करते हो ? (उत्तर) मद्य के बिना उस मांस के सेवन से क्या लाभ ? (अर्थात् मद्य के बिना मांस भोजन में कोई आनन्द नहीं आता है) (प्रश्न) और (क्या) शराब भी तुमको अच्छी लगती है ? (उत्तर) हाँ, वेश्याओं के साथ प्रिय है। (अर्थात् मुझे केवल शराब ही अच्छी नहीं लगती है अपितु वेश्याओं के साथ आमोद-प्रमोद करते हुये शराब का पीना अच्छा लगता है) (प्रश्न) उनकी (वेश्याओं) की धन (प्राप्त करने) के विषय में अभिलाषा होती है (और) तुम्हारे पास धन कहाँ से ? (अर्थात् भिक्षुक होने के कारण तुम्हारे पास धन है ही नहीं) (उत्तर)

द्यूतक्रीड़ा के द्वारा अथवा चोरी करने के द्वारा (मैं धन प्राप्त कर लेता हूँ) (प्रश्न) क्या (अपि) तुम चोरी और द्यूत को भी अपनाते हो ? (उत्तर) दुराचारी मनुष्य की (चोरी और द्यूतक्रीड़ा के अतिरिक्त) और दूसरी गति होती है। (अर्थात् इससे भिन्न दुराचारी व्यक्तियों के लिये और दूसरा जीवन का साधन नहीं है)।

टिप्पणी—(१) उक्त पद्य में भिक्षु आलम्बन विभाव है, उसका ... का सेवन करना अनुभाव है, उन उन विशिष्ट कर्मों को कहने के द्वारा प्र... होने वाली चञ्चलता व्यभिचारीभाव है। इन सबसे परिपुष्ट हुआ स्थायी... हास हास्यरस को प्राप्त होता है। किन्तु इसके विपरीत यदि यह वार्ता... वस्तुतः यथार्थ हो, तब तो उस भिक्षुक के प्रति घृणा ही उत्पन्न होगी, हास्य नहीं।

(२) उक्त पद्य में 'शार्दूलविक्रीड़ित' छन्द है।

(३) **हास्यरस का स्थायीभाव, वर्ण और देवता—**

विकृताकारवाग्वेशचेष्टादेः कुहकाद् भवेत्।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥

आलम्बन और उद्दीपन विभाव :—

विकृताकारवाग्चेष्टं यमालोक्य हसेन्नरः।
तदत्रालम्बनं प्रोक्तं तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥

अनुभाव—अनुभावोऽक्षिसंकोचवदनस्मेरतादयः।

व्यभिचारिभाव—निद्राऽऽलस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥

करुणस्य —

अदृष्टदुःखो धर्माऽऽत्मा सर्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्त्तयेत् ? ॥
यस्य भृत्याश्च दासाश्च स्वादून्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम् ? ॥११॥ [रामा०]

टीका—अदृष्टेति—कौशल्याया उक्तिरियम्। अदृष्टदुःखः—न दृष्टम् अनुभूतं दुःखं येन सः अदृष्टदुःखः—अननुभूतदुःखः अथवा परेषा...

:खस्य येन दर्शनं न कृतम् धर्मात्मा--धार्मिकः सर्वभूतप्रियंवदः--र्वेषां भूतानां--प्राणिनां कृते प्रियंवदः--प्रियवक्ता मयि--कौशल्यायां शरथात् जातः--उत्पन्नः (रामः) कथं--केन प्रकारेण उञ्छेन--शिला-णोञ्चयेन वर्तयेत्=वृत्तिं--जीविकां कुर्यादित्यर्थः। यस्य भृत्याः—रिजनाः दासाः---किङ्कराश्च स्वादूनि---मधुराणि अन्नानि भुञ्जते--क्ष्यन्ति सः अयं रामः वने---अरण्ये मूलफलानि---कन्दफलानि--कथं क्ष्यते ?॥ (रामायण. अयोध्याकाण्ड २४·२–३)।

(अत्र राम आलम्बनविभावः, उञ्छवृत्तिजीवनमुद्दीपनविभावः, शिल्यायाः क्रन्दनमनुभावः कौशल्याया विषादावेगादिकञ्चाऽऽक्षिप्तं यभिचारिभावः, तः परिपुष्टः सामाजिकानां शोकः करुणरस-मापद्यते।)

अर्थ --करुण (रस) का उदाहरण --

अवतरणिका ----रामचन्द्रजी के वन में जाने के दृढ़ निश्चय को जानकर शल्या निम्न शब्दों में विलाप कर रही है :--अदृष्टेति–नहीं देखा है दुःख सने ऐसा अथवा नहीं देखा है दूसरों के दुःख को जिसने ऐसा धार्मिक सभी णियों के साथ प्रिय बोलने वाला मुझ (कौशल्या) में दशरथ से उत्पन्न राम) किसप्रकार उञ्छवृत्ति से (अपना) जीवन निर्वाह करेगा ? जिस रामचन्द्रजी) के नौकर और दास सुस्वादु भोजन करते हैं वह यह राम वन कन्दफलों को कैसे खायेगा ?

टिप्पणी –(१) उक्त पद्य में राम आलम्बन विभाव है, उञ्छवृत्ति से विका निर्वाह करना उद्दीपन विभाव है, कौशल्या का विलाप अनुभाव है, शोक। विषाद और आवेगादि व्यभिचारिभाव है। इसप्रकार इन सभी से रिपुष्ट स्थायीभाव शोक करुण रस को प्राप्त होता है।

(२) उक्त पद्य में "पथ्यावक्त्र" छन्द है ।

(३) उञ्छ और शिल में भेद–

उञ्छः कणश आदानं कणशाद्यर्जनं शिलम् ।

(४) करुणरस का वर्ण और इसका देवता –

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥

स्थायीभाव, आलम्बन और उद्दीपनविभाव —

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥

अनुभाव —अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दनादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥

व्यभिचारी भाव —निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिक्षमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताऽद्या व्यभिचारिणः ॥

रौद्रस्य—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ (१२) [वेणी

टीका—कृतमिति–वेणीसंहारनाटके रणे स्वयंमृतद्रोणशिरच्छेदक्रुद्धस्य अश्वत्थाम्नः पाण्डवान् प्रति सम्बोध्योक्तिरियम्:—

यैः निर्मर्यादैः=निर्गता मर्यादा–धर्मव्यवस्था येभ्यः तैः (समर्यादामतिक्रान्तैरिति भावः) मनुजपशुभिः–पशुरूपै र्मनुष्यैःउदायुधैः उद्धृतशस्त्रैः भवद्भिः इद – पुरोदृश्यमानं गुरुपातकं — महापातक (आचार्यहननरूपमिति भावः) कृतम् – अनुष्ठितम अनुमतम्—अनुम

दितं दृष्टं—प्रत्यक्षीकृतं वा अयम् अहं—अश्वत्थामा नरकरिपुणा—
—नरकासुरवैरिणा कृष्णेन सार्धं—समं सभीमकिरीटिनां—भीमार्जुन-
सहितानां तेषां—भवताम् असृङ्मेदोमांसैः—रक्तवसामांसैः दिशां—
दिग्देवतानां बलिं—पूजां करोमि—निवर्तयामि—तान् नाशयामीति-
भावः। (वेणीसंहार ३, २४)

[अत्र अर्जुनादयः आलम्बनविभावः, उदायुधत्वादिरुद्दीपन-
विभावः, अधर्मेण पितृनिहन्तॄणां तर्जनाऽऽद्यनुभावः, अश्वत्थाम्नो
गर्वामर्षादिकं व्यभिचारिभावः, एतैः परिपुष्टः कोपः स्थायिभावः
सामाजिकानां रौद्ररसत्वमायातीति।]

अर्थ—रौद्र (रस) का (उदाहरणः–)

अवतरणिका—भट्टनारायण प्रणीत वेणीसंहार नाटक के तृतीय अंक में
अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनकर शस्त्र छोड़कर बैठे हुये
आचार्य द्रोण को धृष्टद्युम्न ने अपनी तलवार से मृत्यु का ग्रास बनाया था।
इस समाचार को सुनकर अपने पिता की मृत्यु से कुपित अश्वत्थामा पाण्डवों
को लक्ष्य करके कह रहा है:–

अर्थ–जिन मर्यादारहित पशु रूपी मनुष्य शस्त्र धारण किये हुए तुम
सभी ने यह (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला आचार्य द्रोणाचार्य की मृत्युरूप)
महापाप किया है अथवा अनुमति दी है अथवा प्रत्यक्ष देखा है, यह मैं
(अश्वत्थामा) नरक नामक राक्षस के शत्रु श्रीकृष्ण के साथ भीम और अर्जुन
सहित तुम सबके रुधिर, मज्जा और मांस से दिशाओं की पूजा करता हूं
अर्थात् तुम सभी को शीघ्र मारता हूं।

टिप्पणी--(१) उक्त पद्य में अर्जुनादि आलम्बन विभाव हैं, शस्त्रों
को हाथ में धारण करना उद्दीपन विभाव है, अश्वत्थामा का अपने पिता को
मारने वालों को बुरा भला कहना अनुभाव है, अश्वत्थामा का गर्व और
अमर्ष आदि व्यभिचारिभाव हैं—इन सभी से परिपुष्ट कोप स्थायीभाव

सहृदय सामाजिकों के लिये रौद्र रस का आस्वाद कराता है।

(२) उक्त पद्य में "हरिणी" छन्द है।

(३) रौद्ररस का स्थायीभाव, वर्ण और देवता

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।

आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।
मुष्टिप्रहारपतनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव।
संग्रामसम्भमाद्यैस्तस्योद्दीप्तिर्भवेत्प्रौढा॥

अनुभाव—भ्रुविभङ्गोष्ठनिर्दंशबाहुस्फोटनतर्जनम्।
आत्माऽवदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च॥
अनुभावास्तथाऽऽक्षेपक्रूरसन्दर्शनादयः।

व्यभिचारीभाव—उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः।
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः॥

वीरस्य—

क्षुद्राः ! सन्त्रासमेते विजहित हरयः ! क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे ! तिष्ठ, पात्रं त्वमसि न हि रुषां, नन्वहं मेघनादः
किञ्चित् भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि। (१३) (हनुम

टीका—क्षुद्रा इति—हनुमन्नाटके क्रुद्धस्य मेघनादस्योक्तिरियम्। (हे) क्षुद्राः—(जात्या पराक्रमाभावेण च) नीचाः ! हरयः—कपयः ए —अमी (यूयम्) सन्त्रासं—मरणभयं विजहित—त्यजत, क्षुण्ण शक्रेभकुम्भाः—क्षुण्णौ-चूर्णीकृतौ शक्रस्य—इन्द्रस्य इभकुम्भौ—ऐरावतकुम्भौ यैस्तथाभूताः अमी—इमे सायकाः=शराः (मम युष्मद्देहेषु—युष्माकं शरीरेषु निष्पतन्तः—(मच्चापात) निर्गच्छन्तः पर —अत्यर्थं लज्जां—ह्रियं दधति—धारयन्ति। (हे) सौमित्रे लक्ष्मण तिष्ठ—मा धाव, त्वं (मम) रुषां—क्रोधानां पात्रं—भाजनं न ि

असि–नैव भवसि, ननु – भोः ! अहं मेघनादः भ्रूभङ्गलीलानियमित-जलधिं=भ्रूभङ्गलीलया—कोपजनितभ्रूभङ्गमात्रेण नियमितः—बद्धः जलधिः=समुद्रः येन तादृशं रामं किञ्चित्—मनाक् (न सामस्त्येन) अन्वेषयामि—अनुसन्दधामि ॥

(अत्र आलम्बनविभावो रामः, रामचेष्टा समुद्रबन्धनं च उद्दीपन विभावः, क्षुद्रे ष्वपेक्षापूर्वकं रामविषयककिञ्चिदन्वेषणरूपप्रतिस्पर्धनम् अनुभावः, ऐरावतगण्डस्थलभेदनस्मृतिः लज्जां दधाति इति व्यग्यो गर्वश्च व्यभिचारिभावः, एतैः परिपुष्टः आस्वादपदवीं गतः मेघनादस्योत्साहः स्थायिभावः सामाजिकानां वीररसत्वं लभते ।]

अर्थ—वीर (रस) का (उदाहरण)–

अवतरणिका—हनुमान्नाटक में क्रुद्ध रावण पुत्र मेघनाद की यह उक्ति है ।

अर्थ—हे क्षुद्र वानरो ? ये तुम (अपनी) मृत्यु का भय छोड़ दो, (क्योंकि तुम क्षुद्र होने के कारण ही प्रहार के योग्य नहीं हो ।) विद्ध कर दिये हैं इन्द्र के ऐरावत हाथी के गण्डस्थलों को जिन्होंने ऐसे ये (मेरे) बाण तुम्हारे शरीरों पर (मेरे धनुष से निकल कर) गिरते हुये अत्यधिक लज्जा को धारण कर रहे हैं । (हे) लक्ष्मण ! ठहरो, (भागने की आवश्यकता नहीं है) मैं मेघनाद हूं । (और) अपनी भृकुटिभंगिमा के विलास से बाँध दिया है समुद्र को जिसने ऐसे उस राम को यत्किञ्चित् (पूर्णरूपेण नहीं) खोज रहा हूं ।

टिप्पणी–(१) उक्त पद्य में राम आलम्बन विभाव हैं, राम की चेष्टा और उनका समुद्र बन्धन उद्दीपन विभाव है, क्षुद्रों के प्रति उपेक्षा और राम को खोजना अनुभाव हैं, ऐरावत हाथी के गण्डस्थल के भेदन की स्मृति और गर्व व्यभिचारीभाव हैं–इसप्रकार इन सभी विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट मेघनाद का स्थायीभाव उत्साह सहृदय सामाजिकों के हृदय में वीररस को अभिव्यक्त करता है ।

(२) 'सायकाः' की व्युत्पत्ति—स्यन्ति-नाशयन्ति प्राणान् ये ते सायकाः।

(३) "सौमित्रे"–यहाँ पर लक्ष्मण को उसकी माता के नाम से सम्बोधित कर उसके अवीरात्व को प्रतिपादित किया है।

(४) 'मेघनाद' की व्युत्पत्ति--मेघ इव नदतीति मेघनादः।

(५) रामायण में ऐसी कथा आती है कि लङ्का पर चढ़ाई करने के लिये जाते समय मार्ग में समुद्र पड़ता था, इस समुद्र पर बिना पुल बनाये राम की सेना समुद्र को पार नहीं कर सकती थी। परन्तु महान् प्रयत्न करने पर भी जब राम उस समुद्र पर पुल नहीं बना सके तो उनको क्रोध आ गया और उस क्रोध में उन्होंने उस समुद्र को सर्वथा सुखा देने का ही दृढ़ निश्चय कर लिया। उस समय राम को क्रोधित देखकर स्वयं समुद्र राम के सम्मुख हाथ जोड़कर आ खड़ा हुआ और अपनी इस धृष्टता के लिये राम के चरणों पर गिरकर क्षमा मांगी। इसप्रकार समुद्र का बंधन हुआ। उक्त पद्य में इस कथा की ओर संकेत 'भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिम्' पद से किया है।

(६) उक्त पद्य में 'स्रग्धरा' छन्द है।

(७) वीररस का स्थायीभाव, देवता और वर्ण —

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः॥

आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

आलम्बनविभावाश्च विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः॥

अनुभाव—अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः।

व्यभिचारिभाव—सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।

(८) इस वीर रस के चार भेद होते हैं —(१) धर्मवीर (२) दानवीर (३) युद्धवीर और (४) दयावीर।

भयानकस्य —

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाऽभावादपास्य त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताऽऽश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाऽऽशङ्किनः ॥१४॥ (रत्नावली)

टीका — भयानकोदाहरणमाह —

नष्टमिति—रत्नावलीनाटिकायामश्वशालाया विदूषकस्य वसन्तकस्य वानरवेषेण निर्गतयान्तःपुरे प्रविशति सति भीतानां वामन-किरातादीनां वर्णनमिदम् । वर्षवरैः-नपुंसकैः मनुष्यगणनाऽभावात् = मनुष्येषु गणनायाः—संख्यानस्य अभावात्—विरहात् (नपुंसकत्वात् न पुमान न च स्त्री इत्यर्थः) त्रपां—लज्जाम् अपास्य—त्यक्त्वा (भयात्) नष्टं-पलायितम् । अयं—पुरोवर्ती वामनः—खर्वपुरुषः कञ्चुकिकञ्चुकस्य =कञ्चुकिनः यः कञ्चुकः—चोलकः तस्य अन्तः—मध्ये त्रासात्—भयात् विशति—प्रविशति । पर्यन्ताऽऽश्रयिभिः—नगरप्रान्तवासिभिः—किरातैः—व्याधैः निजस्य—स्वस्य नाम्नः—किरातेत्यस्य (किरं—प्रान्तदेशम् अतन्ति—गच्छन्तीति व्युत्पत्तिलभ्यस्यार्थस्येत्यर्थः), सदृशम्—उचितं कर्म कृतं—विहितं (पर्यन्तेषु पलायितमिति भावः) । कुब्जाः—गड्डुलाः आत्मेक्षणाऽऽशङ्किनः—आत्मनः—स्वस्य ईक्षणं—वानरकर्तृकदर्शनं तस्मात् आशङ्कन्ते इति तथोक्ताः सन्तः नीचतया—अनुच्चतया एव शनकैः—मन्द मन्दं (निःशब्दमित्यर्थः) यान्ति—गच्छन्ति (भुवि रिङ्गन्तोऽपयान्तीत्यर्थः) । (रत्नावलीनाटिका २.३)

(अत्र वानरनिर्गमनमालम्बनविभावः, वानरचेष्टादिकमुद्दीपनविभावः, धावनकम्पादिकमनुभावः, वर्षवरादीनां त्रासाऽऽवेगादिकं व्यभिचारिभावः, एतैः परिपुष्टा भीतिः सामाजिकानां भयानकरसत्वमायाति ।)

अर्थ ---भयानक (रस) का (उदाहरण) ----

अवतरणिका ----श्री हर्ष विरचित रत्नावली नाटिका में विदूषक वसन्तक जिस समय वानर वेष धारण कर अश्वशाला से अन्तःपुर में प्रविष्ट होता है, उस समय भयभीत वामन, किरातादिकों का वर्णन इस पद्य में किया गया है।

अर्थ----नपुसंक मनुष्यों में गणना न होने के कारण लज्जा को छोड़कर (वानर के भय से) भाग खड़े हुये। यह (सन्मुख दिखाई देने वाला) वामन (बौना) कञ्चुकी के चोले में (उस) वानर के भय से घुस रहा है। नगर के प्रान्त भाग में निवास करने वाले किरातों ने अपने नाम के अनुरूप आचरण किया (अर्थात् जो ग्राम के बाहर रहते हैं, वे किरात कहलाते हैं)। अपने दिखाई दे जाने की आशंका वाले कुब्ज (कूबर युक्त) मनुष्य (और अधिक) नीचे होकर ही शनैः शनैः जा रहे हैं ॥ १४ ॥

टिप्पणी---(१) उक्त पद्य में वानर का अश्वशाला से निकलना आलम्बन विभाव है, उसकी चेष्टायें उद्दीपनविभाव है, वामन किरातादिकों का भागना और कांपना आदि अनुभाव हैं, नपुंसकादिकों का भय और आवेग आदि व्यभिचारीभाव हैं --इसप्रकार इन विभावानुभावव्यभिचारीभावों से परिपुष्ट स्थायीभाव भय सहृदय सामाजिकों के हृदय में भयानकरस की कोटि को प्राप्त होता है।

(२) नपुंसकों की गिनती न पुरुषों में होती है और न ही स्त्रियों में। अत. उनको भय के कारण भागने में किसी प्रकार की लज्जा नही होती है क्योंकि भय से भयभीत होकर भागना मनुष्यों के लिये तो लज्जा की बात है किसी अन्य के लिये नहीं। परिणामतः वानर को देखते ही वे भाग खड़े हुये वर्षवर का लक्षण इसप्रकार किया गया है ---

ये त्वल्पसत्वाः प्रथमाः क्लीवाश्च स्त्रीस्वभाविनः।
जात्या न दुष्टाः कार्येषु ते वै वर्षवराः स्मृताः ॥

(३) कञ्चुकी का लक्षण ----

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

(४) किरात की व्युत्पत्ति ----किरं-प्रान्तदेशमतति-गच्छति इति किरातः अर्थात् जो निरन्तर चारों ओर घूमते रहते हैं अर्थात् पर्वतों के आसपास रहते हैं। भिल्ल के समान यह भी पर्वतीय जंगली जाति है। इनको काम करने के लिये वाध्य किया जाता था और राजा इनको पहरेदार के रूप में नियुक्त करता था। यहां पर ये किरात राजा के अन्तः पुर में रह रहे थे, अतः जैसे ही उन्होंने वानर को आते देखा, भाग खड़े हुए। परिणामतः इन्होंने अपने "किरात" नाम को अन्वर्थक कर दिया अर्थात् जैसा उनका नाम था उसीके अनुसार वे प्रान्त देश में भाग गये।

(५) उक्त पद्य में 'शार्दूलविक्रीड़ित' छन्द है।

(६) भयानक रस का स्थायीभाव, देवता और वर्ण —

भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः ।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ॥

आलम्बन और उद्दीपन विभाव —

यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।
चेष्टा घोरतरा तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ॥

अनुभाव ----अनुभावस्तु वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम् ।
पुलकस्वेदरोमाञ्चकम्पादिक्प्रेक्षणादयः ॥

व्यभिचारिभाव----जुगुप्साऽऽवेगसम्मोहसन्त्रासग्लानिदीनताः ।
शङ्काऽपस्मारसंभ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः ॥

बीभत्सस्य —

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्टपिण्डाऽऽद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

अन्तःपर्य्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥ १५ ॥

[मालतीमाधवम्]

टीका--बीभत्सरसस्योदाहरणमाह — उत्कृत्योत्कृत्येति —मालती-माधवप्रकरणे पञ्चमेऽङ्के श्मशानगतशवभोजिनं प्रेतरङ्कमवलोक्य माधवस्योक्तिरियम्-प्रेतरङ्कः=प्रेतेषु—पिशाचेषु रङ्कः—दरिद्रः प्रथमम्—आदौ कृत्तिं—चर्म उत्कृत्य उत्कृत्य—छित्त्वा छित्त्वा अथ—अनन्तरं पृथूच्छोथभूयांसि=पृथुभिः—महद्भिः उच्छोथैः—स्फीतताभिः भूयांसि· प्रभूतानि अंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाऽऽद्यवयवसुलभानि=अंसौ—स्कन्धौ स्फिक्—नितम्बः पृष्ठपिण्डी—जंघोर्ध्वभागः एवमादिषु अवयवेषु—अङ्गेषु सुलभानि—सुप्राप्याणि उग्रपूतीनि=उत्कटदुर्गन्धानि मांसानि· पिशितानि जग्ध्वा—भक्षयित्वा अन्तःपर्यस्तनेत्रे =अन्तः—अभ्यन्तरे (शवस्य) पर्यस्ते=परितः-समन्ततः अस्ते—पातिते नेत्रे येन तादृशः (तथा) प्रकटितदशनः=प्रकटिताः—आविष्कृताः दशनाः—दन्ताः येन सः अङ्कस्थात्-क्रोडे स्थापितात् करङ्कात्-नरकङ्कालात् (शवात्) अस्थिसंस्थं· कङ्कालान्तर्गतं (तथा) स्थपुटगतमपि=स्थपुटं— निम्नोन्नतभागः तत्र गतं—स्थितमपि क्रव्यम्—अपक्वमांसम् अव्यग्रं व्यग्रतारहितम् अत्ति—भक्षयति ॥

(मालतीमाधवम् ५.१६)

[अत्र प्रेतरङ्कः शवमांसं वा आलम्बनविभावः, मांसकर्तनं तद्भक्षणं च उद्दीपनम्, द्रष्टुःनिष्ठीवनादयोऽनुभावाः, मोहाऽऽदयो व्यभिचारिभावः, एतैः परिपुष्टो जुगुप्साऽऽख्यः स्थायिभावः बीभत्सरसत्वं प्रतिपद्यते ।]

अर्थ—बीभत्स (रस) का (उदाहरण)—

अवतरणिका—भवभूति विरचित मालतीमाधव नामक प्रकरण के पञ्चम अङ्क में श्मशान में शवभोजी पिशाच को देखकर माधव कह रहा है—

(यह) दरिद्र पिशाच सबसे पहले चमड़े को काट-काटकर तदनन्तर अत्यधिक फूल जाने के कारण स्थूल कन्धे, नितम्ब और जंघाओं के ऊपर के भाग (पृष्ठपिण्डी) आदि अवयवों में सुप्राप्य उत्कट दुर्गन्ध वाले मांसों को खाकर, (शव के) अन्दर डाले हैं नेत्र जिसने ऐसा (अर्थात् आंखों को गड़ाये हुए) दिखाया है दाँतों को जिसने ऐसा (अपनी) गोद में रखे हुए नरकङ्काल से हड्डियों के मध्यभाग में स्थित (तथा) नीचे-ऊँचे भागों में विद्यमान भी कच्चे मांस को निश्चिन्त होकर खा रहा है।

टिप्पणी—(१) उक्त पद्य में पिशाच अथवा शव आलम्बन विभाव है, उसका मांस को काटना और उसको खाना उद्दीपन विभाव है, उस पिशाच की मांसादि को खाने के समय की गई चेष्टाओं को देखकर देखने वाले का नाक-भौं आदि का सिकोड़ना अनुभाव है, मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं, इस-प्रकार इन सबसे परिपुष्ट जुगुप्सा नामक स्थायीभाव बीभत्सरस को प्राप्त होता है।

(२) उक्त पद्य में "स्रग्धरा" छन्द है।

(३) **बीभत्सरस का स्थायीभाव, वर्ण और देवता :—**

जुगुप्सा स्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः॥

आलम्बन और उद्दीपन विभाव :—

दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्।
तत्रैव कृमिपातादिरुद्दीपनमुदाहृतम्॥

अनुभाव और व्यभिचारिभाव :—

निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनादयः।

अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ।
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ॥

अद्भुतस्य--

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥१६॥ [अभि० शा०]

टीका—अद्भुतरसस्योदाहरणमाह—मानुषीभ्य इति–कालिदासीये शाकुन्तलनाटके कण्वाश्रमस्थायाः परमसुकुमार्याः शकुन्तलायाः रूपमवलोक्य हस्तिनापुराधीशस्य दुष्यन्तस्योक्तिरियम् ।

अस्य—पुरोदृश्यमानस्य शकुन्तलासम्बन्धिनः रूपस्य—सौन्दर्यस्य सम्भवः–समुद्भवः मानुषीभ्यः—मनुष्यजातिस्त्रीभ्यः कथं नु—केन प्रकारेण वा स्यात ? नैव स्यादित्यर्थः, (तथाहि) प्रभातरलं=प्रभया-दीप्त्या तरलम्—उज्ज्वलम् ज्योतिः—तेजः वसुधातलात्—पृथिव्याः न उदेति—नोत्पद्यते (अत इयं कापि देवकन्येति भावः ॥)

[अभिज्ञानशाकुन्तलम् १·२२]

[अत्र शकुन्तला आलम्बनविभावः तस्याः सौन्दर्यतिशय उद्दीपनम् शकुन्तलादर्शनान्नेत्रविस्तारात्मा अनुभावः, औत्सुक्यादयो व्यभिचारिणः, तैः परिपुष्टो विस्मयाऽऽख्यः स्थायिभावः सामाजिकानाम् अद्भुतरसत्वमापद्यते ॥)

अर्थ--अद्भुत (रस) का (उदाहरण)--

अवतरणिका—महाकवि कालिदास प्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में कण्वमुनि के आश्रम में स्थित अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला के सौन्दर्य को देखकर राजा दुष्यन्त की यह उक्ति है—

अर्थ—इस (सामने दिखाई देने वाली शकुन्तला से सम्बन्धित) सौन्दर्य की उत्पत्ति मनुष्यजातीय स्त्रियों से कैसे सम्भव हो सकती है ? (अर्थात् किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है) (क्योंकि) सौन्दर्य से उज्ज्वल ज्योति पृथिवी से उत्पन्न नहीं होती है, (इसलिये इसे कोई देवकन्या ही होना चाहिये)।

टिप्पणी--(१) उक्त पद्य में शकुन्तला आलम्बनविभाव है, उसका अनिन्द्य सौन्दर्य उद्दीपनविभाव है, शकुन्तला को देखकर होने वाला नेत्रों का विकास अनुभाव है और औत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट विस्मय नामक स्थायीभाव सामाजिकों के हृदय में अद्‌भुत रस का सञ्चार करता है।

(२) उक्त पद्य में "पथ्यावक्त्र" छन्द है।

(३) **रूप का लक्षण**--

अङ्गान्यभूषितान्येन प्रक्षेप्याद्यैर्विभूषणैः।
येन भूषितवद्भान्ति तद्रूपमिह कथ्यते॥

(४) **अद्‌भुतरस का स्थायीभाव और देवता** :--

अद्‌भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।

वर्ण और आलम्बन विभाव :--

पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्॥

उद्दीपन विभाव--गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।

अनुभाव--स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्‌गदस्वरसम्भ्रमाः॥

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।

व्यभिचारिभाव—वितर्कावेगसम्भ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः॥

एषां क्रमेण स्थायिभावानाह मम्मटः—

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥'

टीका—एषां—शृङ्गारादीनां रसानाम् ।

रतिः—मनोऽनुकूलेऽर्थे मनस उत्कट आवेशः, हासः—[वागादि वैकृतात्] चेतोविकासः, शोकः—[इष्टनाशादिभिः] चेतोवैक्लव्यम्, क्रोधोत्साहौ=क्रोधः—प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य [अपचिकीर्षायाः] प्रबोधः, उत्साहः—कार्यारम्भेषु स्थेयान् संरम्भः [त्वराजनकश्चित्तवृत्तिविशेषः] इति तौ तथा भयम्—[रौद्रशक्त्या जनितं] मनसो वैक्लव्यम्, जुगुप्सा—दोषेक्षणादिभिर्गर्हा विस्मयश्चैव—[वस्तुमाहात्म्यदर्शनात्] चित्त विस्तारश्चैव—[एते] स्थायिभावाः—चित्तवृत्तिविशेषवासनारूपाः प्रकीर्तिताः—कथिताः अर्थात् उक्तरसानां यथासंख्यमेते स्थायिभावा इत्यर्थः

[काव्यप्रकाश ४४५

अर्थ—इन (शृङ्गारादि रसों) के क्रमशः स्थायीभावों को आचार्य मम्मट (काव्यप्रकाश ४.४५) कहते हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और भय ही (उक्त रसों के क्रमशः) स्थायीभाव कहे गये हैं ।

टिप्पणी – (१) स्थायीभाव का सामान्य लक्षण :—

विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आनन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संज्ञितः ॥

अर्थात् विरोधी भाव अथवा अविरोधीभाव जिस भाव को अन्तर्हित करने में असमर्थ होते हैं, वह आनन्दाङ्कुरकन्दभाव स्थायी भाव कहा गया है

अर्थात् विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विच्छिन्न नहीं होता है, वह स्थायीभाव कहलाता है।

व्यभिचारिभावान् कथयति स एव–

निर्वेदग्लानिशङ्काऽऽख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥

टीका—स एव —मम्मट एव (काव्यप्रकाशे ४.४६)।

(१) निर्वेदः—तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेः स्वावमाननम्, (२) ग्लानिः—रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिजन्या, (३) शंका—परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः अनर्थस्य चिन्तनम्, (४) असूया—अन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता (५) मदः–मधुपानादिजः चेतोविकारः, (६) श्रमः–रत्यध्वगत्यादेः खेदः, (७) आलस्यम्–श्रमगर्भाद्यैः पुरुषार्थेष्वनादरः (८) दैन्यम्– दौर्गत्यादेरनौजस्यम्, (९) चिन्ता–हितानाप्तेः ध्यानम्, (१०) मोहः–भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः विचिन्तना (११) स्मृतिः–पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानम्, (१२) धृतिः–विपत्तावपि स्थिरचित्तता, (१३) व्रीडा–धाष्ट्याभावः चेतसः संकोचः (१४) चपलता–मात्सर्यद्वेषरागादेः अविमृश्यकारिता, (१५) हर्षः–लाभादिः

[१६] आवेगः—अनर्थातिशयात् चेतस्य सम्भ्रमः [१७] जड़ता - क्रियास्वपाटवम् [१८] गर्वः—अभिजन लावण्यधनैश्वर्यादिभिः मदः [१९] विषादः—प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेः उत्साहनाशः [२०] औत्सुक्यम्—वाञ्छितप्राप्तौ कालाक्षमत्वम् [२१] निद्रा—श्रमादिभिरिन्द्रियाणां व्यापारवैमुख्यम् [२२] अपस्मारः—ग्रहावेशादिसम्भवः मनःक्षेपः [२३] सुप्तम्—निद्रामुपेतस्य विषयानुभवः [स्वप्नज्ञानम्] [२४] प्रबोधः—निद्रापगमहेतुभ्यश्चेतनागमः [२५] अमर्षः—स्थिततरः कोपः [२६] अवहित्थम्—लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम् [२७] उग्रता—चित्तचण्डत्वम् [२८] मतिः—शास्त्रोपदेशमन्त्राद्यैरर्थनिर्धारणम्। [२९] व्याधिः—विरहादेर्मनस्तापः [३०] उन्मादः—उत्कण्ठाहर्षशोकादेः चित्तविभ्रमः [३१] मरणम्—जीवस्योद्गमनारम्भः [३२] त्रासः—औत्पातिकैर्मनः क्षोभः [३३] वितर्कश्च—सन्देहाद्यनन्तरं जायमानं ऊहः व्यभिचारिणः विज्ञेयाः। अमी त्रयस्मिंशद् भावाः नामतः—उद्देशरूपेण (न तु लक्षणोदाहरणप्रदर्शनादिना) समाख्याताः—संक्षेपेण कथिताः॥ (काव्यप्रकाश ४.४६)

अर्थ—वह ही अर्थात् मम्मट व्यभिचारीभावों का कथन करते हैं :—

(१) निर्वेद—तत्वज्ञानादि के द्वारा अथवा आपत्ति में अपना तिरस्कार करना, (२) ग्लानि—रति, आयास, मनस्ताप, भूख और प्यास से उत्पन्न होने वाली निष्प्राणता, (३) शङ्का—दूसरे की क्रूरता तथा अपने दोषों आदि से अनर्थ का चिन्तन, (४) असूया—दूसरे के गुण, समृद्धि आदि को न सहन करना, (५) मद—मद्यपानादि से उत्पन्न होने वाला चित्तविकार, (६) श्रम—रतिजन्य और मार्ग की क्लान्ति से उत्पन्न खेद, (७) आलस्य—श्रमादि के कारण पुरुषार्थ के प्रति अनादर, (८) दैन्य—दुर्गति आदि से ओजस्विता का अभाव, (९) चिन्ता—हित की अप्राप्ति में ध्यान की एकाग्रता, (१०) मोह—भय, दुःख और आवेग के पौनःपुन्येन चिन्तन से चित्त की

शून्यता (११) स्मृति—पहले अनुभव किये हुये विषय का ज्ञान (१२) धृति-आपत्ति में भी चित्त का विचलित न होना, (१३) व्रीड़ा—चित्त का संकोच, (१४) चपलता—मात्सर्य, द्वेष और रागादि से बिना सोचे समझे कार्य करना, (१५) हर्ष—अभीष्ट लाभ की प्राप्ति से मन की प्रसन्नता (१६) आवेग—अनर्थ के आधिक्य से चित्त का सम्भ्रम (१७) जड़ता—कार्य में पटुता का अभाव (१८) गर्व—उच्चकुलोत्पन्नता, सौंदर्य, धन एवं ऐश्वर्यादि के कारण अन्यत्र अवज्ञा (१९) विषाद—प्रारम्भकिये हुए कार्य में सफलता न मिलने से उत्साह का नाश (२०) औत्सुक्य—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब को सहन न करना, (२१) निद्रा—परिश्रमादि के द्वारा इन्द्रियों की व्यापारशून्यता (२२) अपस्मार—ग्रह और आवेशादि से उत्पन्न होने वाली मन की विक्षिप्तता (२३) सुप्त—निद्रा की अवस्था में विषयों का अनुभव (२४) प्रबोध—निद्रा के दूर होने से चैतन्य की प्राप्ति (२५) अमर्ष—क्रोध की स्थिरता (२६) अवहित्था—लज्जादि के कारण प्रसन्नतादि को छिपाना (२७) उग्रता—चित्त की प्रचण्डता (२८) मति—शास्त्रों के अध्ययन से अर्थ का निश्चिय करना, (२९) व्याधि—विरह आदि के कारण मनस्ताप (३०) उन्माद—चित्तविभ्रम् (३१) मरण—मूर्च्छा (३२) त्रास—मनःक्षोभ और (३३) वितर्क—सन्देह होने के पश्चात् किया जाने वाला विचार—को व्यभिचारीभाव समझना चाहिये। (इसप्रकार) ये ३३ व्यभिचारीभाव नाम्ना कहे गये हैं।

स्थायीभाव और व्यभिचारीभाव में अन्तर:—

टिप्पणी (१) यद्यपि रति आदि स्थायीभाव और निर्वेदादि व्यभिचारीभाव—दोनों ही चित्तवृत्ति विशेष हैं, तथापि स्रक्सूत्रन्याय से स्थायीभाव नियत अवस्था वाले होते हैं और व्यभिचारीभाव फेनबुदबुदन्याय से अनियत अवस्था वाले होते हैं।

२ **निर्वेद**—तत्वज्ञान से उत्पन्न होने वाला निर्वेद स्थिर रहने के कारण शान्तरस का स्थायीभाव कहलाता है और आपत्ति तथा ईर्ष्यादि से उत्पन्न होने वाला निर्वेद व्यभिचारीभाव होता है।

(३) त्रास और भय में अन्तर:-

उत्पात आदि से उत्पन्न होने वाला एवं कम्प आदि को करने वाला मन:क्षोभ "त्रास" कहलाता है तथा आगा-पीछा सभी प्रकार के परिणामों पर विचार करने के पश्चात् उत्पन्न होने वाला "भय" कहलाता है। [त्रासो दु:खहेतुर्मन:क्षोभ:, भयन्तु भाविदु:खद्वेष इति भेद:।]

नवम: शान्तरस:—

'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस: ॥'

[मम्मट:]

यथा—अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसा:
क्वचित् पुण्येऽरण्ये शिव ! शिव ! शिवेति प्रलपत: ॥१७॥

[वैरा० शत०]

टीका—निर्वेदस्थायिभाव:=निर्वेद: स्थायिभाव: यस्य स: निर्वेदस्थायिभाव: शान्त: अपि नवम: रस: अस्ति—वर्तते (नत्वाधुनिक इति भाव:)।

(काव्यप्रकाश ४.४७)

यथा—अहाविति—अहौ वा—सर्पे वा हारे—मुक्तादिरचितकण्ठाभरणे वा कुसुमशयने—पुष्पशय्यायां वा दृषदि—पाषाणे वा मणौ—हीरकादिरत्ने वा लोष्टे—मृत्पिण्डे वा बलवति-समर्थे रिपौ—शत्रौ वा सुहृदि—मित्रे वा तृणे—घासे वा स्त्रैणे—स्त्रियां वा स्त्रीसमूहे वा समदृश:=समा—अविषमा (उदासीना) दृक्—दर्शनं, ज्ञानमिति यावत् यस्य तथोक्तस्य मम क्वचित—कुत्रापि पुण्ये—पवित्रे अरण्ये-

कानने (नैमिषारण्यादौ) शिव शिव शिव इति—इत्थं प्रलपतः—प्रलापं कुर्वतः सतः दिवसाः—दिनानि—यान्तु—गच्छन्तु।

(अत्र अहिहारादेः मिथ्यात्वेन दर्शनमालम्बनविभावः, तपोवनाद्युद्दीपनम्, तत्र सर्वत्र समदर्शनमनुभावः, हर्षप्रबोधादयो व्यभिचारिणः, एतैः परिपुष्टो निर्वेदः शान्तरसत्वमायाति।)

अर्थ—नौवें शान्तरस (का वर्णन किया जाता) है :—

(उपरिवर्णित शृङ्गारादि आठ रसों के अतिरिक्त) निर्वेद स्थायीभाव वाला शान्तरस भी नौवां रस है (मम्मट, काव्यप्रकाश ४.४७)।

तद्यथा—

अवतरणिका—भर्तृहरिप्रणीत वैराग्यशतक (४०) से उद्धृत यह पद्य है।

सर्प अथवा (मोती की मणियों से खचित) हार के विषय में, पुष्पों की शय्या अथवा पाषाण (शय्या) के विषय में, मणि अथवा मिट्टी के ढेले के विषय में, बलवान् शत्रु अथवा (अभिन्न) मित्र के विषय में, घास अथवा स्त्री के अथवा स्त्रीसमूह के विषय में समान दृष्टि वाले मेरे किसी भी पवित्र वन (नैमिषारण्य) में शिव शिव शिव इसप्रकार प्रलाप करते हुए दिन व्यतीत होवें।

टिप्पणी—(१) उक्त पद्य में सर्प और हारादि का मिथ्यात्वेन देखना आलम्बन विभाव है, तपोवनादि उद्दीपन विभाव है, संसार की प्रत्येक वस्तु में समान दृष्टि का होना अनुभाव है और हर्ष-प्रबोधादि व्यभिचारीभाव हैं—इसप्रकार इन सब से परिपुष्ट निर्वेद स्थायीभाव शान्तरस में परिणमित होता है।

(२) शान्तोऽपि—यहाँ पर प्रयुक्त 'अपि' शब्द पहले कहे हुये सभी शृङ्गारादि रसों का समुच्चायक है । अर्थात् और तो रस हैं ही यह नौवां शान्त रस भी है ।

(३) उक्त श्लोक के अन्दर "वा" के द्वारा दो-दो वस्तुओं का वर्णन एक साथ किया गया हैं, जैसे हरि और हार, पुष्पशय्या और पाषाण, मणि और लोष्ट, शत्रु और मित्र तथा घास और स्त्रीसमूह । इसमें से एक उपादेय है और दूसरी वस्तु अनुपादेय है । यहाँ पर भक्त की दोनों ही प्रकार की वस्तुओं के प्रति समदृष्टि कही गई है, यही "वा" पद की सार्थकता है ।

(४) उक्त पद्य में "शिखरिणी" छन्द है ।

(५) **शान्तरस का स्थायीभाव, वर्ण और देवता—**

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ॥

आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमुच्यते ॥
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः॥

अनुभाव और व्यभिचारीभाव—

रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः ।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ॥

यहाँ पर शान्तरस का स्थायिभाव 'शम' कहा गया है, 'निर्वेद' नहीं यह मत साहित्यदर्पणकार का है । काव्यप्रकाश के मत में तो "निर्वेद" है स्थायीभाव है । यहाँ पर "शम का अर्थ निर्वेद" करना भी उचित नहीं है क्योंकि साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण इसप्रकार किया है :—

शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रान्तिजं सुखम् ।

इसीप्रकार मम्मट के अनुसार "निर्वेद' को छोड़कर ही शेष व्यभिचारी-भाव समझने चाहिये ।

वत्सलरसः—

'केचिच्चमत्कारितया वत्सलश्च रसं विदुः ॥ [विश्वनाथः]

यथा—यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥१८॥ [रघु०]

टीका—(सम्प्रति) वात्सल्यरसः प्रतिपाद्यते—केचिद्—भरतादयः प्राचीनाः चमत्कारितया—चमत्कारजनकतया वत्सलं च रसं विदुः । (विश्वनाथः, साहित्यदर्पणे. ३.७६)

उदाहरति यथा—धात्र्येति । रघुवंशे रघोः शैशवावस्थावर्णनमिदम् । सः अर्भकः—शिशुः रघुरित्यर्थः धात्र्या-उपमात्रा प्रथमम् उदितम्—(उच्चारितं) वचः यत् आह—ब्रवीति स्म, तदीयां—धात्रीसम्बन्धिनीम् अङ्गुलिम् अवलम्ब्य—आश्रित्य (यत्) च ययौ—गच्छति स्म, प्रणिपात-शिक्षया=प्रणिपातस्य शिक्षया—उपदेशेन (एवं गुरवः प्रणम्याः इत्युपदेशेनेत्यर्थः) (यत्) च नम्रः—नतशिरा इत्यर्थः अभूत् तेन-हेतुना पितुः—जनकस्य (दिलीपस्य) मुदम्—आनन्दं ततान—विस्तारयामास, जनयामास इत्यर्थः । (रघुवंश ३.२५)

(अत्रार्भक आलम्बनविभावः, तथोक्तभाषणादिकमुद्दीपनविभावः, आलिङ्गनादयोऽनुभावाः, हर्षादयश्च व्यभिचारिणः, एतैः परिपुष्टः स्नेहाऽऽख्यः स्थायिभावः सभ्येषु वत्सलरसत्वमापद्यते ।)

अर्थ—(सम्प्रति दशम) वात्सल्य का वर्णन किया जा रहा है—

कुछ (भरतादि प्राचीन आचार्य) चमत्कार को उत्पन्न करने के का[illegible] वत्सलरस को मानते हैं। (विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ३·७९)

[वत्सलरस का उदाहरण] जैसे :—धात्र्येति।

अवतरणिका—कालिदास प्रणीत रघुवंश महाकाव्य में दिलीप के [illegible] रघु की शैशवावस्था का वर्णन है।

अर्थ—बालक रघु धात्री के द्वारा पहले उच्चारण किये हुये वचन [illegible] जब बोलता था (दुहराता था) और उस (धात्री) की अंगुलि को पकड़[illegible] (जब) चलता था तथा (गुरुओं को) प्रणाम करने की शिक्षा के द्वा[illegible] विनम्र होता था, इसप्रकार (तेन) अपने पिता दिलीप के आनन्द [illegible] बढ़ाता था।

टिप्पणी—(१) उक्त पद्य में बालक रघु आलम्बन विभाव है, उस[illegible] बोलना-चलनादि उद्दीपन विभाव है, उसका आलिङ्गन किया जाना अनु[illegible] है और हर्ष आदि व्यभिचारीभाव हैं—इन सभी से परिपुष्ट स्नेह ना[illegible] स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में वत्सलरस की प्रतीति कराता है।

(२) उक्त पद्य में 'वंशस्थ' छन्द है।

(३) **वत्सलरस का स्थायीभाव, आलम्बन और उद्दीपन विभाव** :—

स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः॥

अनुभाव—आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्।
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः॥

व्यभिचारीभाव—सञ्चारिणोऽनिष्टशंका हर्षगर्वादयो मताः।

वर्ण और देवता—पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः॥

अष्टम शिखा

अलङ्कार-निरूपणम्

१. उपमा

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्याभिधीयते ।

[दण्डी, काव्यादर्श]

स्पष्ट रूप से सुन्दर साम्य का कथन करने पर उपमा अलंकार होता है।

प्रस्फुटमिति रूपकादेर्गम्यसाम्यवाद् भेदाय । सुन्दरं-वैचित्र्यजनकम् । "तेन गौरिव गवयः" इत्यत्र नायमलंकारः । साम्यं सादृश्यम् । साम्यञ्च क्रियागतं, गुणगतम्, उभयगतञ्चेति त्रिविधम् । क्रमेणोदाहरणानि ।

उपमा की उपर्युक्त की परिभाषा की व्याख्या इस प्रकार है—यहां 'प्रस्फुट' शब्द का प्रयोग रूपक आदि अलङ्कारों से इसका भेद करने के लिये है। उपमा अलङ्कार में उपमान और उपमेय के सादृश्य का स्पष्ट रूप से कथन किया जाता है, जब कि रूपक आदि अलंकारों में यह सान्दृश्य स्पष्ट रूप से कथित न होकर अर्थात् दाच्य न होकर व्यङ्ग्य होता है। 'सुन्दर' का अभिप्राय है, वैचिऽयजनक होना अर्थात् सहृदय-आह्लादक होना। "गौरिव गवयः"-गाय के समान नीलगाय होती है, इस वाक्य में कवि कल्पनाप्रसूत कोई विचित्रता अथवा मनोरंजकता न होने से उपमा नहीं होगी। 'साम्य' का अभिप्राय है उपमान और उपमेय में समानता। यह साम्य तीन प्रकार का होता है—क्रियागत, गुणगत और उभयगत। इनके उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं।

विशेष कथन—उषमा के चार अंग होते हैं—उपमेय, उपमान समान धर्म और उपमावाचक शब्द। जिस वस्तु का वर्णन किया जा रहा है और जिसका अन्य वस्तु के साथ सादृश्य कहा जा रहा है, उसे उपमेय प्रकृत, प्रस्तुत अथवा वर्ण्य कहा जाता है। जिस वस्तु के साथ उपमेय के सादृश्य का कथन करते हैं, उसे उपमान, अप्रस्तुत अथवा अवर्ण्य कहते हैं। उपमेय और उपमान के मध्य समानता को समान या साधारण धर्म कहते हैं। समानता का कथन करने वाले इव आदि शब्दों को उपमावाचक शब्द कहते हैं।

तत्र क्रिया गत यथ—

क्रियागत उपमा का उपाहरण इस प्रकार है'—

क्षणात् प्रबोधमायाति तमसा लंघ्यते पुनः
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः ॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

अत्र 'आयाति' 'लंघ्यते' इति च क्रिय द्वयस्य उपमेय उपमाने च साम्यम्।

वृद्ध मनुष्य की बुद्धि बुझते हुये दीपक की शिखा के समान क्षण भर में प्रबुद्ध हो जाती है और क्षण भर में पुनः अन्धकार से आवृत हो जाती है। जिस प्रकार बुझते हुये दीपक की शिखा कभी तेज होती है और तुरन्त ही मन्द हो जाती है, उसी प्रकार वृद्ध मनुष्य की बुद्धि कभी चेतन होती है और तत्काल ही अज्ञान से आवृत हो जाती है।

इस वाक्य में 'आयाति' और 'लघ्यते' ये दोनों क्रियायें उपमेय और उपमान दोनों में समान हैं।

इस उदाहरण में 'जरतो मतिः' उपमेय, 'प्रदीपस्य शिखा' उपमान, 'प्रबोधम् आयाति' और 'तमसा लंघ्यते' समान धर्म तथा 'इव' उपमावाचक शब्द हैं। उपमान और उपमेय में क्रियागत साम्य का कथन करने से यहाँ उपमा अलंकार है।

गुणगत यथा—

गुणगत साम्य का उदाहरण इस प्रकार है:—

हरस्तु किञ्चित्प्रविलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

(कुमारसम्भवम्)

अत्र प्रविलुप्तधैर्यत्वं गुण उभयत्रापि समानः।

चन्द्रोदय के आरम्भ में धैर्य को कुछ खो देने वाले समुद्र के समान अधीर हुये शिव ने बिम्बफल के सदृश अधर-ओष्ठ वाले पार्वती के मुख पर अपने नयनों को प्रवर्तित किया, अर्थात् उसकी ओर एकटक देखने लगे।

यहां 'परिलुप्तधैर्यत्व' गुण उपमान और उपमेय दोनों में समान है।

इस उदाहरण में 'अम्बुराशिः' उपमान, 'हरः' उपमेय, 'प्रविलुप्तधैर्यः' समान धर्म और 'इव' उपमावाचक शब्द हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र अधीर होकर ऊपर को उठने लगता है, उसी प्रकार पार्वती को देख कर शिव, अधीर होकर उनकी ओर एकटक देखने लगे। उपमान और उपमेय में गुणगत साम्य का कथन करने से यहां उपमा अलंकार है।

उभयगतं यथा—

क्रियागत और गुणगत साम्य का उदाहरण इस प्रकार है:—

क्रिया स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते।
गुण धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः॥

(उत्तररामचरितम्)

अत्र 'स्नपयति' इति क्रियासाम्यम, 'स्नेहनिष्यन्दिनी' धवलबहलमुग्धा' इति गुणसादृश्यञ्च।

राम को ओर देखती हुई सीता से तमसा नदी कहती है—धवल तथा मुग्ध एवं स्नेह को प्रभावित करती हुई तुम्हारो दृष्टि दूध की धारा के समान हृदयेश राम को स्नान करा रही है।

यहां उपमान और उपमेय में 'स्नपयति' क्रियागत साम्य है, और 'धवलबहलमुग्धा' तथा 'स्नेहनिष्यन्दिनी' गुणगत साम्य है।

इस उदाहरण में 'दृष्टिः' उपमेय, 'दुग्धकुल्या' उपमान, 'स्नेहनिष्यन्दिनी', 'धवलबहलमुग्धा' और 'स्नपयति' समान धर्म एवं 'इव' उपमावाचक शब्द हैं। जिस प्रकार स्नेह (चिकनाई) को प्रवाहित करने वाली और शुभ्र तथा चिकनी दूध की धारा किसी को स्नान करादे, इसी प्रकार स्नेह (प्रेम) को प्रवाहित करने वाली और शुभ्र एवं भोली दृष्टि राम को नहला रही है। यहाँ उपमान और उपमेय में क्रियागत और गुणगत दोनों प्रकार का साम्य होने से उपमा अलंकार है।

२ अनन्वय

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे
अनन्वयः।

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

इस वाक्य के अन्दर उपमान और उपमेय भाव में एक वस्तु की उपमा ही वस्तु से दिये जाने पर अनन्वय अलंकार होता है अर्थात् अनन्वय अलंकार में उपमेय की उपमा उसी उपमेय से दी जाती है।

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः।

अन्य किसी उपमान का न होना ही अनन्वय है। यथा—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिनितम्बिनी सैव नितम्बिनीव।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद् विलासाः॥

अत्यन्त सौन्दर्यशालिनी वह नितम्बिनी न केवल नितम्बिनी के ही समान शोभायमान होती है, किन्तु कामदेव के क्रीडास्थल बने हुये उसके बिलास भी उसके विलासों के सदृश हैं।

यहाँ नितम्बिनी की नितम्बिनी से और तद्विलास की तद्विलास से उपमा दी गई है। अतः यहाँ अनन्वय अलंकार है। अथवा—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥

आकाश, आकाश के ही समान है, समुद्र, समुद्र के ही समान है और राम रावण का युद्ध राम-रावण के युद्ध ही तुल्य है।

इस उदाहरण में गगन का गगन से, सागर का सागर से और रामरावण युद्ध का राम-रावण युद्ध से सादृश कहा गया है, अतः यहाँ अनन्वय अलंकार है।

अनन्वय और उपमा में अन्तर—अनन्वय और उपमा में एक उपमेय तथा एक उपमान होते हैं और उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य का कथन किया जाता है। उपमा में उपमान और उपमेय पृथक् पृथक् पदार्थ होते हैं, किन्तु अनन्वय में एक ही होते हैं अर्थात् वर्णनीय वस्तु का उसी वर्णनीय वस्तु से सादृश कहा जाता है जिसका अभिप्राय यह है कि वह वस्तु अनुपमेय है और उसका कोई उपमान नहीं हो सकता।

३. रूपक

'तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।'

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति होने पर रूपक अलंकार होता है।

उपमानं चन्द्रादि, उपमेयं मुखादि। प्रकाशितविभिन्नस्वरूपयोरपि उपमानोपमेययोरतिसाम्यप्रदर्शनाय काल्पनिकोऽभेदारोपो रूपकमित्यर्थः।

'चन्द्रमुख' इत्यादि प्रसिद्ध वाक्यों में चन्द्र आदि उपमान और मुख आदि उपमेय होते हैं। यद्यपि इन उपमानों और उपमेयों के स्वरूप स्पष्ट रूप से विभिन्न हैं, तथापि इनमें अत्यधिक साम्य का प्रदर्शन करने के लिये कवि उपमेय पर उपमान का काल्पनिक अभेद आरोपित करता है, जिसको रूपक कहते हैं। यथा —

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुः विनम्रशाखाभुजबन्धनानि॥

(कुमारसम्भवम्)

अत्र लतासु वधूनां, पुष्पस्तवकादिषु च स्तनादीनामभेदारोप :

कवि वसन्त का वर्णन करते हैं—प्रभूत पुष्पों के गुच्छों रूपी स्तनों वाली खिले हुये प्रवाल रूपी ओठों से मनोहर हुई लता रूपी वधुओं से वृक्षों ने भी झुकी हुई शाखाओं रूपी भुजाओं द्वारा आलिंगनों को प्राप्त किया।

यहां लताओं में वधुओं का और पुष्पस्तयक आदि में स्तन आदि का अभेद रूप से आरोप किया गया है।

इस उदाहरण में 'लता' उपमेय पर 'वधू' उपमान का 'पुष्पस्तवक' उपमेय पर 'स्तन' उपमान का, 'प्रवाल' उपमय पर 'ओष्ठ' उपमान का और 'शाखा उपमय पर 'कर' उपमान का अभेद रूप से आरोप किया गया है। अतः यहाँ रूपक अलंकार है। कवि ने लताओं को वधू रूप में चित्रित करके उनके अंगों और व्यापारों में इतना अधिक साम्य उपस्थित किया है, वे अभिन्न प्रतीत होते हैं।

उपमा और रूपक में भेद—उपमा अलंकार में उपमान और उपमेय की समानता का कथन किया जाता है और यह वाच्य होता है। उपमान और उपमेय में समानता होते हुये भी दोनों में भेद भी विद्यमान रहता है अर्थात् उपमान और उपमेय कुछ समान होते हुवे भी अभिन्न नहीं हैं, किन्तु भिन्न भिन्न हैं। रूपक अलंकार में उपमान और उपमेय में समानता वाच्य नहीं होती किन्तु व्यङ्ग्य होती है। कवि शब्दों में यह नहीं कहता कि 'उपमेय', 'उपमान' के समान है। वह दोनों में इतना अधिक साम्य व्यञ्जित करता

है कि वे अभिन्न प्रतीत होते हैं। वह उपमान को उपमेय पर आरोपित करता है अर्थात् उपमेय, उपमान ही के रूप में है, उससे भिन्न नहीं है।

४. उत्प्रेक्षा

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्

(दण्डी काव्यादर्श)

उपमान के साथ उपमेय की सम्भावना करने को उत्प्रेक्षा अलंकार कहा जाता है।

'प्रकृतस्य'—उपमेयस्व, 'समेन'—उपमानेन, 'सम्भावनञ्च'—उत्कटकोटिकः संशयः। अप्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वञ्च प्रस्तुतकोटेर्निगरणेन जायते, निगरणञ्चः प्रस्तुतस्य क्वचिदनुपादानेन क्वचिदुपात्तस्याप्यधः करणेन भवति। यदुक्तम्—

निगीर्णत्वलक्षणम्

विषयस्यानुपादानेऽप्युपादाने च सूरयः
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ।।

(दण्डी काव्यादर्श)

विषयः——प्रस्तुतम्।

उत्प्रेक्षा के इस लक्षण में 'प्रकृतस्य' का अर्थ है---उपमेय की, समेन का अर्थ है----उपमान के साथ, 'सम्भावनम्' का अर्थ है---उत्कट कोटि का संशय।

संशय निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है। अन्धकार में रस्सी को देख कर सर्प की भ्रान्ति होती है। यदि निश्चय हो जावे कि यह सर्प ही है, तो यह निश्चयात्मक ज्ञान होगा। यह सर्प है या रस्सी है, ऐसा ज्ञान होने पर संशय होगा। इस संशय की एक से अधिक कोटियाँ होती हैं। यदि यह समझ में आवे कि यह सर्प है या रस्सी है तथा सर्पत्व और रज्जुत्व दोनों धर्मों का विकल्प रहता है, इस अवस्था में दोनों वस्तुओं की कोटि समान रहती है। इसमें संदेह ही होता है। यदि इसमें एक के ज्ञान की प्रबलता होती है तो उसकी कोटि उत्कट हो जाती है। इस प्रकार उपमान की कोटि के प्रबल हो जाने पर संभावना होती है।

उपमान की कोटि की प्रबलता उपमेय की कोटि का निगरण करके होती है, अर्थात् उपमान उपमेय का निगरण कर लेता है। उपमान द्वारा उपमेय का यह निगरण दो प्रकार से होता है:—(१) या तो कवि कहीं उपमेय का कथन ही नहीं करता अथवा (२) उपमेय का कथन करके भी उसे नीचे कर दिया जाता है, उसका तिरस्कार कर दिया जाता है। जैसा कि दण्डी ने काव्यादर्श में 'निगीर्णत्व' का लक्षण किया है—

विद्वान मनुष्य निगीर्णत्व का लक्षण इस प्रकार करते हैं-कहीं पर या तो विषय अर्थात् उपमेय का कथन ही नहीं होता अथवा कथन करके भी उसका तिरस्कार कर दिया जाता है।

इस लक्षण में 'विषय' का अर्थ है प्रस्तुत अर्थात् उपमेय।

क्रमेणोदाहरणम्–

निगरण के दोनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं–

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिविफलतां गता॥

(मृच्छकटिकम्)

अत्र तमसः प्रसारसम्पातादिरूप विषयोनोपात्तः।

अन्धकार मानों अङ्गों को लिप्त कर रहा है, आकाश मानों अञ्जन की वर्षा कर रहा है। दुष्ट पुरुष की सेवा करने के समान दृष्टि विफलता को प्राप्त कर रही है।

इस उदाहरण के पहिले आधे अंश में उत्प्रेक्षा है। अन्धकार के प्रसरण (उपमेय) की लेपन (उपमान) के साथ और सम्पात (उपमेय) की वर्षण (उपमान) के साथ सम्भावना की गई है इस प्रकार कवि ने वर्णनीय विषय अन्धकार के प्रसरण और सम्पात का कथन नहीं किया। इस प्रकार यहां उपमान 'लेपन' और 'वर्षण' द्वारा उपमेय 'प्रसरण' और 'सम्पात' का निगरण होने से उपमान का उत्कटकोटिक संशय होता है।

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां,
समनन्दयत् सुमुखि गौतमापितः।

अयमागृहीतकमनीयकङ्कण,
स्यव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः ।।

(उत्तररामचरितम्)

अत्र विषयः कर उपात्तोऽपि मूर्तिमन्महोत्सवरूपेणाधःकृतः ।

राम सीता को सम्बोधित करते हुये कह रहे हैं—हे सुन्दर मुख वाली सीते ! मानों यह वही समय उपस्थित हो गया है, जब गौतम गोत्र में उत्पन्न शतानन्द ऋषि द्वारा अर्पित किये गये, सुन्दर कङ्कण को धारण किये हुये तुम्हारे इस कर ने, मानो यह मूर्तिमान् महोत्सव हो, मुझे आनन्दित किया था ।

इस उदाहरण में कवि ने 'कर' इस उपमेय की 'मूर्तिमान महोत्सव' इस उपमान के रूप में सम्भावना की है. अतः यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है ! यहां विषय, उपमेय 'कर' का कथन करके भी कवि ने उसका उपमान 'मूर्तिकान महोत्सव' द्वारा तिरस्कार कराया है और इस प्रकार अप्रस्तुत कोटि द्वारा प्रस्तुत कोटि का निगरण हुआ है ।

उत्प्रेक्षाबोधकशब्दाः

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायोनूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ।।

(काव्यादर्श)

मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् आदि शब्दों के द्वारा उत्प्रेक्षा अभिव्यक्त की जाती है । इव शब्द भी इसी प्रकार का है, अर्थात् यह भी उत्प्रेक्षा का अभिव्यञ्जक है ।

उपमा और उत्प्रेक्षा का भेद—उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों अलङ्कार साम्य पर आश्रित हैं, अर्थात् कवि उपमेय और उपमान में सादृश्य प्रस्तुत करता है । किन्तु उपमा में उपमेय का स्वरूप प्रकाशित रहता है, उसका पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व उपस्थित नहीं रहता, उसकी उपमान के रूप में सम्भावना की जाती है, उपमान द्वारा उसका निगरण कर लिया जाता है। उपमा में उपमान और उपमेय में सादृश्य वाच्य है, किन्तु उत्प्रेक्षा में यह

व्यङ्ग्य है। मुख चन्द्रमा के समान है, यह उपमा है और मुख मानो चन्द्रमा है, यह उत्प्रेक्षा है।

रूपक और उत्प्रेक्षा में भेद—रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों ही अलङ्कार साम्य पर आश्रित हैं। दोनों ही अलंकारों में सादृश्य व्यङ्ग्य होता है। रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप करके दोनों में अभेद की स्थापना की जाती है, जब कि उत्प्रेक्षा में उपमेय की उपमान के रूप में संभावना होती है। रूपक के आरोप में एक निश्चयात्मक ज्ञान निहित है, किन्तु उत्प्रेक्षा की संभावना में यह ज्ञान संशयात्मक है। मुख चन्द्रमा ही है, यह रूपक है और मुख मानो चन्द्रमा है, यह उत्प्रेक्षा है।

५. अतिशयोक्तिः

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।

(विश्वनाथ साहित्यदर्पण)

अध्यवसाय के सिद्ध अर्थात् निश्चित रूप से प्रतीत होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

प्रकृतस्य निगरणेनाभेदज्ञानमप्रकृतस्य अध्यवसायः। तस्य च उत्प्रेक्षाया-मप्रस्तुतस्यानिश्चितत्वेन निर्देशात् साध्यत्वम्। इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीति-रिति सिद्धत्वमित्यनयोर्भेदः। निगरणञ्च उभयत्रापि समानमेव। यथा—

प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत या उपमेय का अप्रकृत अर्थात् अप्रस्तुत या उपमान द्वारा निगरण होने से दोनों में अभेद का ज्ञान होकर अप्रकृत का निश्चय होता है, इसे अध्यवसाय कहते हैं। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति में भेद यह है कि उत्प्रेक्षा अलंकार में उपमान द्वारा उपमेय का निगरण अनिश्चित होने से निगरण की साध्यावस्था रहती है, किन्तु अतिशयोक्ति अलंकार में निगरण की प्रतीति निश्चित होने के कारण इसकी सिद्ध अवस्था होती है। निगरण दोनों अलङ्कारों में समान रूप से होता है। जैसे—

अकालजलदावली किरतु नाम मुक्तावली—
रपर्वणि विधुंतुदस्तुदतु हन्त शीतद्युतिम्।
इद तु महदद्भुतं यदनपायिविद्युल्लता—
ऽवलम्बि कनकाचलद्वयमधोमुखं नृत्यति॥

अत्र केशादेर्जलदावल्यादिरूपेणाध्यवसानम् ।

असमय की मेघों की पंक्ति मोतियों की वर्षा कर सकती है, पूर्णिमा से अतिरिक्त तिथि में भी राहु चन्द्र को व्यथित कर सकता है किन्तु यह महान् आश्चर्य का विषय है किन्तु स्थिर रहने वाली विद्युत रूपी लता में लटकते हुये दो कनकाचल (सुमेरु पर्वत) नीचे को मुख किये हुये नाच रहे हैं।

इस उदाहरण में 'केश' आदि उपमेयों का 'जलदावली' आदि उपमानों के रूप में अध्यवसान होने से अतिशयोक्ति अलंकार है।

यहाँ सद्य: स्नाता नायिका का वर्णन कवि करता है— नहाई हुई सुन्दरी के काले केशों से जल की बूंदें बिखर रही हैं, काले केशों ने सुन्दर मुख को आवृत कर रखा है, भीगी शाटिका में से सुनहरी देहयष्टि चमक रही है और उसमें दो सुन्दर स्वर्णाभ पयोधर नीचे लटक रहे हैं। इस प्रकार यहाँ क्रमशः काले केश, जल की बूंदें, काले केश, मुख, देहयष्टि और पयोधरद्वय उपमेय है और जलदावली, मुक्तावली, विधुन्तुद, शीतद्युति, विद्युल्लता और कनकाचलद्वय उपमान हैं। प्रस्तुत पद्य में उपमानों द्वारा उपमेयों का पूर्ण रूप से निगरण होकर अभेद ज्ञान होने से अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

यथा वा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा,
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः,
वीरो रसः किमयमित्युत दर्प एव ॥

(उत्तररामचरितम्)

अत्र कुशस्य वीररसरूपेण दर्पेण चाध्यवसानम् ।

इसकी (कुश की) दृष्टि तीनों लोकों की शक्ति को तृण के समान तुच्छ समझती है, इसकी धीर और उद्धत गति मानो पृथिवी को झुकाये दे रही है। कुमार अवस्था में ही पर्वत के सदृश गौरव को धारण करता हुआ क्या यह साक्षात् वीर रस ही जा रहा है अथवा दर्प ही है।

यहाँ 'कुश' इस उपमेय का 'वीररस' और 'दर्प' इन उपमानों द्वारा निगरण होने से अभेद रूप अध्यवसान है।

प्रथमे विषयः केशादिर्नोपात्तः, द्वितीये 'अयम्' इत्यनेनोपात्तोऽप्यधः कृतः।

पहले उदाहरण 'अकालजलदावली' और दूसरे उदाहरण 'दृष्टिस्तृणीकृत' में भेद यह है कि पहिले उदाहरण में विषय अर्थात् उपमेय 'केश' आदियों का कवि ने शब्दों द्वारा कथन नहीं किया, किन्तु दूसरे उदाहरण में 'अयम्' इस उपमेय का कथन करके भी इसे 'वीररस' और 'दर्प' इन उपमानों द्वारा अधःकृत किया है।

अतिशयोक्ति के अन्य प्रकार—

अलंकार ग्रन्थों में अतिशयोक्ति के कुछ अन्य प्रकार भी कहे गये हैं—

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वयद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।
कार्यकारणयोश्चैव पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः साऽप्यन्यैव प्रथमोक्ततः॥
(मम्मट, काव्यप्रकाश)

(क) प्रस्तुत अर्थात् उपमेय को 'अन्य' इस प्रकार कह कर उसमें असाधारणता प्रतिपादित की जावे। (ख) 'यदि' शब्द के द्वारा प्रस्तुत में असामान्य-असंभाव्य की कल्पना की जावे और (ग) कार्यकारण सम्बन्ध के पौर्वापर्य को उलट कर कहा जावे अर्थात् कारण पहिले और कार्य बाद में होता है, कवि इस सम्बन्ध को उलट दे, इन तीनों अवस्थाओं में भी अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

अन्यदेवांगलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः।
तस्या पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम्॥

कमलों की पंखुड़ियों के समान सुन्दर आंखों वाली उस नायिका के अंगों का लावण्य कुछ अन्य ही प्रकार का है, उसके शरीर की सुगन्धि कुछ अन्य ही प्रकार की है। उसकी सरलता अलौकिक ही है।

यहां अन्य शब्द के प्रयोग द्वारा नायिका के सौन्दर्य में असाधारणत्व अशौकिकत्व की कल्पना करने से अतिशयोक्ति अलंकार है।

यदि शब्देन तत्पर्यायान्तरेण वा यद्यर्थस्य कथनेऽसम्भविनोऽर्थस्य कल्पनमित्यर्थः।

'यदि' शब्द के द्वारा अथवा उसके पर्यायवाची किसी अन्य शब्द के द्वारा

असम्भव अर्थ की कल्पना करने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। यथा—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्याः ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥

(कुमारसम्भवम्)

यदि प्रवालों (किसलयों अथवा मूंगों) से घिरा हुआ पुष्प हो, अथवा चमकते हुए मूंगे पर मोती जड़ा हुआ हो, तभी उस पार्वती के लाल ओंठों के चारों ओर शोभित खिली हुई मुस्कराहट का साहृश्य हो सकता है।

इस उदाहरण में कवि ने यदि शब्द का प्रयोग करके पार्वती के स्मित के साहृश्य की असंभाव्यता कल्पित की है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति, कारणतः पूर्व कार्यस्य भावे द्वयोः समकालत्वे च।

कार्य और कारण के पौर्वापर्य की विपरीतता दो प्रकार से होती है, या तो कारण से पूर्व कार्य का कथन किया जावे अथवा कारण और कार्य दोनों को एक समय कहा जावे। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

पहिले फूल खिलते हैं तदनन्तर फल लगते हैं, पहले बादल आते हैं तदनन्तर जल बरसता है। कारण और कार्य का सर्वत्र यही क्रम है, किन्तु आपकी कृपा होने से पहिले ही सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

यहाँ मारीच ऋषि का प्रसाद कारण है और सम्पत्तियों का प्राप्त होना कार्य है। कार्य की उपस्थिति कारण से पूर्व हो जाती है, इस प्रकार का कथन करने से यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलचारिमण्डलम्॥

(रघुवंशम्)

गज के समान गति वाले उस वीर रघु ने पिता के सिंहासन पर और

सम्पूर्ण शत्रु समूह पर एक साथ ही अधिकार कर लिया।

राजसिंहासन पर अधिकार करना कारण है तथा शत्रुओं को बस में करना कार्य है। रघु ने सिंहासन पर आरूढ होकर तदनन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। यहां 'सिंहासन पर आरूढ़ होना' इस कारण और 'शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना' इस कार्य, दोनों के समकालत्व का कथन करने से अतिशयोक्ति अलंकार है।

अतिशयोक्ति की विवेचना और इसका अन्य अलंकारों से भेद :—

अतिशयोक्ति के चार भेदों का कथन किया गया है। प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति में उपमेय की पूर्ण रूप से उपमान के रूप में कल्पना की जाती है अर्थात् उपमेय पर उपमान का आरोप होकर उसका निगरण कर लिया जाता है और दोनों में अभेद की स्थापना होकर उपमेय का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। इसमें उपमेय का शब्दों द्वारा कथन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इस अवस्था में उपमेय पर उपमान का आरोप होने से हम इसे रूपक—अतिशयोक्ति भी कह सकते हैं।

रूपक और अतिशयोक्ति में भेद स्पष्ट है। यद्यपि दोनों अलंकारों में उपमेय पर उपमान का आरोप होता है और दोनों में साम्य व्यङ्ग्य है, तथापि रूपक में दोनों के अभिन्न होने पर भी उपमेय का स्वतन्त्र अस्तित्व झलकता रहता है। अतिशयोक्ति में उपमेय की स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान नहीं रहती तथा उपमेय का या तो कथन किया ही नहीं जाता, अथवा किया जाने पर भी यह उपमान द्वारा पूर्णतः निगीरण रहता है। रूपक में आरोप है और अतिशयोक्ति में अध्यवसान, जो आरोप का ही बढ़ा हुआ रूप है।

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के भेद को पहिले कहा जा चुका है। दोनों में ही उपमान और उपमेय में सादृश्य व्यङ्ग्य होता है, तथा उपमान द्वारा उपमेय का निगरण होता है, किन्तु उत्प्रेक्षा अलंकार में यह निगरण साध्य अवस्था में होता है, अर्थात् उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है और यह ज्ञान संशयात्मक है। अतिशयोक्ति अलंकार में यह निगरण सिद्ध अवस्था में हो जाता है, अर्थात् उपमेय में उपमान का अध्यवसान किया जाता है और यह ज्ञान निश्चयात्मक है।

अतिशयोक्ति के अन्य भेदों को वस्तुतः स्वतन्त्र अलंकार ही समझना चाहिये, जिनमें वस्तुतः प्रस्तुत विषय ही मुख्य रूप से विद्यमान रहते हैं और अप्रस्तुत या उपमान या तो होते ही नहीं, अथवा होने पर भी उनकी स्थिति गौण ही होती है। अतः उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों के साथ उनकी तुलना, सादृश्य या विभेद प्रदर्शन करने का विशेष महत्व नहीं है।

१९०७.८०

६. व्यतिरेक

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों के आधिक्य का वर्णन करने पर व्यतिरेक अलंकार होता है।

अन्यस्य—उपमेयस्य, व्यतिरेकः—आधिक्यम्, स एव व्यतिरेकालंकारः। ऊपर के लक्षण में 'अन्य' शब्द का अर्थ उपमेय और 'व्यतिरेक' शब्द का अर्थ आधिक्य है, उपमेय का आधिक्य होने पर व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्यलोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीम्॥

(कुमारसंभवम्)

चन्द्रमा की प्राप्त हुई लक्ष्मी (सौन्दर्य) में कमलों के गुण नहीं होते और कमलों का आश्रय लेने वाली लक्ष्मी में चन्द्रमा की शोभा नहीं रहती। चञ्चल लक्ष्मी ने पार्वती के मुख को पाकर दोनों ही प्रकार की प्रसन्नता (चन्द्रमा और कमल दोनों का सौन्दर्य) प्राप्त की।

अत्र उपमानभूतचन्द्रपद्मापेक्षया उपमेयस्य उमामुखस्य अधिकगुणवत्त्वकथनम्।

इस उदाहरण में 'चन्द्र' और 'पद्म' इन दोनों उपमानों की अपेक्षा उपमेय 'उमामुख' में अधिक सौन्दर्य प्रतिपादित किया गया है, अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। अथवा—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (रघुवंशम्)

दक्षिण दिशा में (दक्षिणायन होने पर) सूर्य का तेज भी मन्द हो जाता है। उस ही दक्षिण में पाण्ड्य देश के लोग रघु के प्रताप को सहन नहीं कर सके। जिस दक्षिण दिशा में सूर्य का तेज भी मन्द पड़ जाता है वहाँ रघु का तेज प्रज्वलित रहा।

अत्र उपमानभूतात् सूर्यादपि रघोः प्रतापातिशयवर्णनम्।

इस उदाहरण में रघु की उपमा सूर्य से दी गई है और 'सूर्य' इस उपमान की अपेक्षा 'रघु' इस उपमेय में गुणों की अधिकता कही गई है। अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

व्यतिरेक का अन्य अलंकारों से भेद—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकारों में उपमान के साथ उपमेय के साहश्य की कल्पना करके भी उपमेय की अपेक्षा उपमान में गुणों के आधिक्य को व्यञ्जित किया जाता है। व्यतिरेक अलंकार में साम्य की कल्पना करते हुए उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों के आधिक्य की अभिव्यक्ति होती है।

९५०८ २ ५/७. **प्रतिवस्तूपमा**

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

जहाँ दो वाक्यों में साम्य प्रतीत हो रहा हो और एक ही सामान्य को भिन्न २ शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया जावे वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।

प्रतियमानसादृश्ययोर्वाक्ययोरेकस्यापि धर्मस्य पौनरुक्त्यभिया शब्दान्तरेण निर्देशः प्रतिवस्तूपमा।

जिन दो वाक्यों में सादृश्य प्रतीत हो रहा हो और एक ही धर्म हो, उनमें पुनरुक्ति के भय से एक ही धर्म को भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है। इसे प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार कहते हैं।

प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार में दो वाक्य होते हैं। इनमें धर्म समान होता है। यह समानता 'इव' आदि शब्दों द्वारा कही नहीं जाती, किन्तु व्यंग्य होती है। कहीं पुनरुक्ति दोष न हो जावे। अतः एक ही समान धर्म को उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य दोनों में पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा जाता है, यथा—

मधुश्च ते मन्मथसाहचर्याद्, असावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणो नोदयिता भवेति, व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥
(कुमारसंभवम्)

हे मन्मथ ! सदा तुम्हारे साथ रहने के कारण वह वसन्त ऋतु बिना कहे हुये भी तुम्हारा सहायक ही है। हे वायु ! तुम अग्नि के प्रेरक बनो, यह कौन आदेश देता है अर्थात् जिस प्रकार वायु, अग्नि का स्वाभाविक रूप से प्रेरक है, इसी प्रकार वसन्त भी कामदेव का सहज सहायक है।

अत्र अनुक्तस्यापि सजवसहायस्य स्वत एव साहाय्यसम्पादने प्रवृत्तिरित्येक एवार्थः शब्दान्तरेण निर्दिष्टः।

यहां सहज सायक बिना कहे हुये भी स्वतः सहायता का सम्पादन करने के लिये प्रवृत्त होता है। इस प्रकार एक ही अर्थ को पृथक्-पृथक शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है।

इस उदाहरण में दो वाक्य हैं। प्रथम उपमेथ वाक्य में कामदेव से कहा गया है कि वसन्त ऋतु बिना कहे ही उसकी सहायता करता है और दूसरे उपमान वाक्य में कहा गया है कि पवन बिना कहे हुये ही अग्नि की सहायता करता है। इस प्रकार उपमेय वाक्य और उपमान वाक्यों में सहज सहायक की बिना प्रेरित किये ही स्वतः सहायता करने की प्रवृत्ति होती है। इस एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है और इस एक ही अर्थ को दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों 'अनुक्तोऽपि सहाय एव' और 'नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन' में निर्दिष्ट किया गया है। अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। अथवा—

धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैः, यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥
(नैषधीयचरितम्)

हे वैदर्भिः दमयन्ती ! तुम धन्य हो, जिसने अपने उदार गुणों से निषध देश के राजा नल को भी आकृष्ट कर लिया है। चांदनी की इससे अधिक स्तुति क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी उत्तरङ्गित करती है।

अत्र समाकर्षणरूपः एक एव धर्मः भङ्ग्यन्तरेण पृथङ् निर्दिष्टः।

इस उदाहरण में आकर्षण रूप एक ही धर्मको प्रकारान्तर से पृथक् निर्दिष्ट किया है।

यहाँ प्रथम उपमेय वाक्य में दमयन्ती द्वारा नल का आकर्षण और द्वितीय उपमान वाक्य में चन्द्रिका द्वारा समुद्र का आकर्षण, इस प्रकार दोनों वाक्यों में 'आकर्षण' यह एक ही अर्थ है। प्रथम वाक्य में इसे 'समाकृष्यते' और दूसरे वाक्य में 'उत्तरलीकुरोति' इन भिन्न भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है।

८. निदर्शना

अभवत् वस्तुसम्बन्धः उपमापरिकल्पकः।
निदर्शना भवेत्सेयं मम्मटेन यथादिता॥
(मम्मट, काव्यप्रकाश)

उपमापरिकल्पकः—पर्यवसाने मम्मटेन, साम्यबोधकः।

जिन दो वाक्यों में परस्पर कोई सम्बन्ध न होने पर इनका इस प्रकार उल्लेख होता है कि वह सम्बन्ध उपमा का आक्षेप करता है, तो निर्दशना अलंकार होता है। उपमा परिकल्पकः का अभिप्राय है—अनन्तोगत्वा साम्य का अवबोधक होना।

जहां इस प्रकार के दो वाक्य हों, जिनमें परस्पर कोई सम्बन्ध न होने पर भी उपमान उपमेय भाव की कल्पना हो, अर्थात् एक वाक्य उपमान और दूसरा उपमेय हो तो निदर्शना अलंकार होता है। यथा —

क्वसूर्यप्रभवो वंशः ? क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
(रघुवंशम्)

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न होने वाला वंश है और कहाँ अल्प विषयों को जानने वाली मेरी बुद्धि है। मोह के कारण मैं छोटी सी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करना चाहता हूं।

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सगरतरणमिवेत्युपमायां पर्यवस्यति।

यहाँ, मेरी बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन करना छोटी नौका से समुद्र के पार करने के सदृश है, इस प्रकार इसका पर्यवसान उपमा में होता है।

इस उदाहरण में वर्णनीय विषय "कहाँ सूर्यवंश और कहाँ मेरी तुच्छ बुद्धि" इस वाक्य का "मैं छोटी नौका से सागर को पार करना चाहता हूं" इस वाक्य के साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और इनको परस्पर सम्बन्ध करने के लिये इन दोनों वाक्यों में उपमान-उपमेय भाव की परिकल्पना करनी पड़ती है—जिस प्रकार छोटी नौका से दुस्तर सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मेरी तुच्छ बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन किया जाना भी अत्यन्त कठिन है। अतः यहां निदर्शना अलंकार है। अथवा

अभ्युन्नतोगुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद् रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥

(कुमारसम्भवम्)

ऊपर को उठे हुये अंगूठों के नखों की कान्तियों से पृथ्वी पर रखे जाने के कारण मानो लालिमा को उद्गीर्ण करते हुये पार्वती के दोनों चरण चलती हुई स्थल कमलों की शोभा को प्रकट कर रहे थे।

अत्र उपमाधर्मस्य अरविन्दश्रियश्चरणयोरुपमेयभूतयोरसंभवादरविन्दश्रियमिव श्रियमित्युपमायां पर्यवसानम्।

यहां उपमा के धर्म अरविन्द श्री का उपमेयभूत चरणों में रहना असंभव होने से "दोनों चरणों की शोभा अरविन्द की शोभा के समान है" इस उपमा में परिकल्पित होता है।

चरणों की शोभा चरणों में होती है और अरविन्द की अरविन्द में। चलते हुये स्थल-अरविन्द असंभाव्य हैं, अतः इन वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी यहाँ इस उपमा की कल्पना की गई है कि पार्वती के दोनों चरणों की शोभा अरविन्दों की शोभा के समान थी। इस प्रकार यहाँ निदर्शना अलंकार है।

प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना में अन्तर—प्रतिवस्तूपमा और निर्दशना दोनों में दो-दो वाक्य होते हैं और एक वाक्यार्थ के साथ दूसरे वाक्यार्थ के सादृश्य की कल्पना की जाती है। प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं, जबकि निदर्शना में वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते। निदर्शना में दोनों वाक्यों के समान धर्म का शब्दों से कथन नहीं किया जाता, किन्तु वह

व्यङ्ग्य होता है। प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों के समान-धर्म का पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा कथन किया जाता है।

६. दृष्टान्त

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

परस्पर समान धर्म वाले वर्णनीय विषयों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने पर दृष्टान्त अलंकार होता है।

सधर्मस्य—समानधर्मस्य, वस्तुनः—विषयस्य, प्रतिबिम्बनम् प्रणिधानेन गम्यसाम्यत्वम्। प्रतिवस्तूपमायामेकस्यैव धर्मस्य भङ्ग्यन्तरेण निर्देशः, इत्यस्माद्भेदः।

लक्षण में 'सधर्मस्य' का अभिप्राय है—समान धर्म वाले, वस्तुनः का अभिप्राय है—वर्णनीय विषय का, प्रतिबिम्बनं का अभिप्राय हैं—प्रणिधान पूर्वक साम्य का प्रतीत होना। प्रतिवस्तूपमा अलंकार में उपमेय और उपमान वाक्यों का एक ही धर्म होता है, किन्तु इसे प्रकारान्तर से निदिष्ट किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में यह अन्तर है। यथा—

नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते।
इन्धनौघ धगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणाम्॥

(शिशुपालवधम्)

कृष्ण की यह छोटी सी वाणी बड़ी उक्तियों द्वारा भी अतिशायित नहीं की जा सकती। ईंधन के समूह को जला देने वाली अग्नि कान्ति से सूर्य का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

इस उदाहरण में प्रथम उपमेय वाक्य और दूसरे उपमान वाक्य में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव सम्बन्ध होने के कारण दृष्टान्त अलंकार है।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में भेद—दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा दोनों में उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य दो वाक्य होते हैं तथा दोनों में सादृश्य की व्यंजना होती है। दृष्टान्त अलंकार में दोनों वाक्यों में धर्म भिन्न भिन्न होते हुए भी परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है। प्रतिवस्तूपमा अलंकार में दोनों

वाक्यों में धर्म एक ही होता है, किन्तु वह पृथक् पृथक् शब्द में कहा जाता है।

दृष्टान्त और निदर्शना में भेद—दृष्टान्त और निदर्शना दोनों में उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य होते हैं तथा दोनों में समान धर्म की अभिव्यंजना होती है। निदर्शना में दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष न होते हुए भी उसका-परिकल्पक होते हैं। दृष्टांत में वे परस्पर अपेक्षा नहीं रखते, निदर्शना में दोनों वाक्यों में एक ही धर्म होता है, दृष्टांत में दोनों वाक्यों में धर्म तो भिन्न भिन्न होता है, किन्तु इनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव रहता है।

१०. अर्थान्तरन्यास

सामान्यं विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्र सार्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

जब सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य द्वारा अथवा वैधर्म्य द्वारा समर्थन किया जाता है तो अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण विशेषो वा सामान्येन यत् समर्थ्यते सोपपत्तिकतया दृढीक्रियते, सोऽर्थान्तरन्यासः। समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावे अर्थान्तरन्यासः। दृष्टान्तस्तु न तथा, इत्यनयोर्भेदः।

मम्मट के ऊपर के लक्षण को स्पष्ट किया जाता है, जब साधर्म्य रूप से अथवा वैधर्म्य रूप से सामान्य का विशेष द्वारा अथवा विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है, युक्तियों द्वारा इसे पुष्ट किया जाता है, तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास चार प्रकार का हो जाता है–(क) साधर्म्य द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन, (ख) साधर्म्य द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन, (ग) वैधर्म्य द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन, (घ) वैधर्म्य द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त में अन्तर यह है कि समर्थ्य और समर्थक वाक्यों में जब सामान्य और विशेष भाव होता है, अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है किन्तु दृष्टान्त अलंकार में ऐसा नहीं होता।

साधर्म्य द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन—

वृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥

(शिशुपालबधम्)

क्षुद्र मनुष्य भी बड़ों की सहायता प्राप्त करके कार्य के अन्त को प्राप्त कर लेता है । छोटी पहाड़ी नदी बड़ी नदी के साथ मिलकर समुद्र को प्राप्त कर लेती है ।

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषेणार्थेन पूर्वार्द्धगतः सामान्योऽर्थः समर्थ्यते ।

इस उदाहरण में श्लोक के पहले अर्ध भाग में सामान्य का कथन है । इसका समर्थन श्लोक के दूसरे आधे भाग में कहे गये विशेष से साधर्म्य द्वारा किया गया है, अतः यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

साधर्म्य द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥

इस प्रकार कृष्ण अर्थ से युक्त वाणी को कह कर चुप हो गये । बड़े आदमी स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं ।

अत्र द्वितीयार्धगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमार्धगतो विशेषोऽर्थः समर्थ्यते ।

इस उदाहरण में 'महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः' श्लोक के इस दूसरे अर्ध भाग में कहे गये सामान्य से साधर्म्य द्वारा श्लोक के पहिले आधे भाग के विशेष का समर्थन किया गया है, अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं ।

वैधर्म्य का उदाहरण—

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥

(कुमारसंभवम्)

इस प्रकार सब से सेवा किया जाता हुआ भी यह तारकासुत तीनों लोकों को कष्ट दे रहा है । दुर्जन मनुष्य प्रत्यपकार से ही शान्त होता है, उपकार से नहीं ।

अत्र द्वितीयार्धगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमार्धगता विशेषोर्थोऽवैधर्म्येण समर्थ्यते ।

इस उदाहरण में श्लोक के दूसरे आधे भाग में सामान्य का कथन किया गया है और पहिले भाग में विशेष का। प्रथमार्थगत विशेष का द्वितीयार्धगत सामान्य से वैधर्म्य द्वारा समर्थन किया जाने के कारण यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास तथा प्रतिवस्तुपमा में अन्तर—अर्थान्तरन्यास और प्रतिवस्तूपमा दोनों में दो स्वतन्त्र वाक्य होते हैं। प्रतिवस्तूपमा उपमामूलक अलंकार है—इसमें एक वाक्य उपमेय और दूसरा वाक्य उपमान होता है और वे सामान्य अथवा विशेष न होकर दोनों ही विशेष होते हैं। दोनों वाक्यों में एक ही धर्म होता है, जो पृथक-पृथक शब्दों से निर्दिष्ट होता है। अर्थान्तरन्यास में एक सामान्य और दूसरा विशेष वाक्य होता है। दोनों वाक्यों में भिन्न भिन्न धर्म होते हुये भी सामान्य वाक्य द्वारा विशेष वाक्य का अथवा विशेष वाक्य द्वारा सामान्य वाक्य का समर्थन किया जाता है।

अर्थान्तरन्यास और निदर्शना में अन्तर—अर्थान्तरन्यास और निदर्शना में दो दो वाक्य होते हैं। निदर्शना उपमामूलक अलंकार है, जिसमें उपमेय वाक्य के साथ उपमान वाक्य के सादृश्य की व्यंजना होती है इसमें दोनों वाक्यों में सम्बन्ध न होने पर भी परस्पर सापेक्षता होती है और एक सामान्य और दूसरा विशेष न होकर दोनों ही विशेष होते हैं। अर्थान्तरन्यास अलंकार में सादृश्य का कथन नहीं होता, दोनों वाक्य परस्पर स्वतन्त्र होते हैं, एक सामान्य होता है और दूसरा विशेष होता है। सामान्य वाक्य से विशेष का अथवा विशेष वाक्य से सामान्य का समर्थन होता है।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त में अन्तर—अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त दोनों में दो परस्पर स्वतन्त्र वाकय होते हैं। दृष्टान्त सादृश्यमूलक अलंकार है, जिसमें एक वाक्य उपमान और दूसरा वाक्य उमेपय है। इन वाक्यों में यद्यपि भिन्न भिन्न धर्म होते हैं, तथापि उनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रहता है। इनमें सामान्य-विशेष भाव न होकर दोनों वाक्य विशेष होते हैं। अर्थान्तरन्यास सामर्थ्यमूलक अलंकार है, जिसमें एक वाक्य सामान्य और दूसरा विशेष होता है। इन दोनों वाक्यों में यद्यपि भिन्न भिन्न धर्म होते हैं, तथापि सामान्य वाक्य से विशेष वाक्य का अथवा विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का समर्थन होता है।



११. तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥
(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एक ही धर्म को आरोपित किया जाने पर तुल्ययोगिता अलंकार होता है ।

केवलं प्रस्तुतानाम् अप्रस्तुतानां वा एक धर्मसम्बन्धः तुल्ययोगिता ।

केवल प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पदार्थों में एक ही धर्म (गुण, क्रिया आदि वशेषताओं) का वर्णन करना तुल्ययोगिता है ।

तुल्ययोगिता अलंकार में या तो केवल प्रस्तुत विषयों का ही वर्णन होता , या केवल अप्रस्तुत विषयों का वर्णन होता है । प्रस्तुत और अप्रस्तुत वषयों का मिलाकर वर्णन नहीं होता । यथा —

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥
(कुमारसंभवम्)

दुहने में चतुर मेरु पर्वत के दोहने वाला होने पर सभी पर्वतों ने जिस हमालय पर्वत को बछड़ा बना कर, महाराज पृथु द्वारा उपदिष्ट पृथ्वी से मकते हुये रत्नों और उत्कृष्ठ औषधियों को दुहा ।

अत्र हिमवद्वर्णनस्य प्रकृतत्वात् तद्गतौषधिरत्नानां द्वयानामपि प्रकृतत्वं षां दोहनक्रियारुपैकसमानधर्मसम्बन्धाद् औपम्यस्य गम्यत्वात् केवलप्राकरणि-विषयोऽयमलङ्कारः ।

कुमारसंभव के इस श्लोक में हिमालय पर्वत का वर्णन प्रस्तुत होने से सकी औषधियों और रत्नों दोनों का वर्णन प्रस्तुत है । इनमें दोहन क्रिया प एक समान धर्म को आरोपित किया गया है और इससे उपमा के गम्य । अभिव्यंजित होने से यह तुल्ययोगिता अलंकार केवल प्रस्तुत विषयक है । हाँ केवल प्रस्तुत विषयों के ही एक धर्म का सम्बन्ध आरोपित होने से ल्ययोगिया अलंकार है । अथवा —

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ।।

(कुमारसंभवम्)

गजराजों के सूंडों की त्वचा कर्कश होती है और कदलीस्तम्भ अत्यन्त शीतल होते हैं। इस कारण ये दोनों वस्तुयें संसार में दीर्घकाल रूप प्राप्त करके भी उस पार्वती की जंघाओं के उपमान होने की योग्यता से बाहर कर दिये गये।

अत्र नागेन्द्रहस्तानां कदलीविशेषाणाञ्च द्वयानामप्यप्रस्तुतानां परिणाहिरुपलाभक्रियायाः समानधर्मस्य सम्बन्धात् केवलाप्राकरणिकविषयकमिदमुदाहरणम् ।

कुमारसंभव के इस श्लोक में गजराजों की सूंडें और कदलीस्तम्भ, ये दोनों ही अप्रस्तुत हैं और दोनों में 'परिणाहिरूप क्रिया' और उपमानबाह्यता' इस समान धर्मों को आरोपित किया गया है, अतः यहाँ अप्रस्तुतविषयक तुल्ययोगिता अलंकार है।

१२. दीपक

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों के एक धर्म का सम्बन्ध स्थापित करने पर दीपक अलंकार होता है।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोरेकधर्माभिसम्बन्धी दीपकम् ।

अप्रस्तुतों और प्रस्तुतों के एक समान धर्म का अभिसम्बन्ध दीपक है। दीपक अलंकार में एक अप्रस्तुत विषय होता है और दूसरा प्रस्तुत विषय होता है और इनमें समान धर्म को आरोपित किया जाता है। यथा—

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ।।

(शिशुपालबधम्)

विजय करने की इच्छा से वह शिशुपाल पहिले के समान अब भी बल के गर्व से संसार को पीड़ित कर रहा है। पतिव्रता स्त्री और निश्चल स्वभाव दूसरे जन्म में भी उस पुरुष को प्राप्त होते हैं।

अत्र प्रस्तुतायाः निश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतातायाः पतिव्रतायाश्च जन्मान्तरेऽपिस्वकीयपुरुषानुगमनरूपैकक्रियासम्बन्धः ।

शिशुपालवध के इस श्लोक में निश्चल प्रकृति प्रस्तुत है और पतिव्रता स्त्री अप्रस्तुत है। इन दोनों प्रस्तुत और अप्रस्तुत से 'दूसरे जन्म में भी वे अपने ही पुरुष का अनगुमन करते हैं।' इस एक धर्म को आरोपित किया गया है। अतः यहां दीपक अलंकार है।

दीपक और तुल्ययोगितामें अन्तर–तुल्ययोगिता और दीपक दोनों के पदार्थ में सादृश्य का बोध होता है। दोनों पदार्थ एक ही वाक्य में रहते हैं। दोनों पदार्थों में एक ही धर्म होता है और इस धर्म का कथन एक ही शब्द से किया जाता है। दोनों में अन्तर यह है कि दीपक अलङ्कार में दोनों पदार्थों में से एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत होता है, जबकि तुल्ययोगिता अलंकार में दोनों पदार्थ या तो प्रस्तुत ही होते हैं। या अप्रस्तुत होते हैं।

दूसरा दीपक (कारक दीपक)

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।

(विश्वनाथ साहित्यदर्पण)

अनेक क्रियाओं का ~~अनेक~~ एक कारक होने पर दीपक अलंकार होता है।

तदापि दीपकमेव।

इस अवस्था में भी दीपक ही अलंकार है। यथा––

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा,
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो,
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च॥

(उत्तररामाचरितम्)

हे सीते! तुम्हारा यह स्पर्श सुख देने वाला है अथवा दुःख देने वाला है, यह मोह को उत्पन्न करने वाला है या निद्रा है। यह विष का प्रसार है या मद है। इसका कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से मेरी इन्द्रियां व्यामोहित हो जाती हैं और कोई विकार चैतन्य का भ्रान्त कर देता है और आनन्दमग्न सा कर देता है।

अत्र भ्रमयति सम्मीलयति चेत्युभयोः क्रिययोःकर्तृकारकमेकं विकार इति कर्मकारकञ्चैकं चैतन्यमिति ।

इस उदाहरण में 'भ्रमयति' और 'सम्मीलयति' इन दोनों क्रियाओं का कर्त्ता कारक 'विकार' है और कर्मकारक 'चैतन्यम्' है। इस प्रकार अनेक क्रियाओं का एक कारक होने के कारण यहां दीपक अलंकार है।

१३. सन्देह

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

भेदोक्तौ तदनुक्तौ च द्विधासौ परिकीर्तितः ।

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

प्रस्तुत या उपमेय में अप्रस्तुत या उपमान का संशय कवि की प्रतिभा से उत्पन्न किया जाने पर संदेह अलंकार होता है। यह दो प्रकार का होता है—

[क] जब उपमेय और उपमान में संशय का कथन करने के अनन्तर दोनों के भेद का कथन कर दिया जावे, [ख] जब संशय का कथन करने के अनन्तर दोनों के भेद को न कहा जावे।

प्रकृते-उपमेये, अन्यस्य-उपमानस्य, प्रतिभा-कविप्रौढोक्तिः तया उत्थितः। तेन 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति सन्देहे नायमलंकारः। भेदः-वैधर्म्यम्।

ऊपर के लक्षण में प्रकृत का अर्थ है—उपमेय, अन्य का अर्थ है उपमान और प्रतिभा का अर्थ है 'कविप्रौढोक्ति' कथात् कवि की कल्पना उससे उत्पन्न। इस कारण स्थाणुर्वा पुरुषो वा=यह स्थाणु है अथवा पुरुष है। इस संशय में संदेह अलंकार नहीं, क्योंकि यह कथन कविकल्पनाप्रसूत नहीं है भेद का अर्थ है—उपमान और उपमेय में गुणों की विभिन्नता।

भेदोक्तौ यथा—

उपमेय और उपमान में भेद के कथन का उदाहरण—

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः,
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैव नियतम्।
कृतान्तः किं साक्षात् ? महिषवहनोऽसाविति चिरं,
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥

युद्ध करते हुये किसी राजा के पराक्रम का कवि वर्णन कर रहा है— क्या यह सूर्य है ? नहीं, यह सूर्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह सात घोड़ों के रथ पर चलता है, क्या यह अग्नि है ? नहीं, यह अग्नि नहीं है। क्योंकि अग्नि तो सभी दिशाओं में फैलती है और इसकी दिशा निश्चित नहीं है। क्या यह साक्षात् यम है ? नहीं, यह यम नहीं है, क्योंकि वह सदा भैंसे पर सवारी करता है। इस प्रकार हे राजन ! युद्ध क्षेत्र में आपको देखकर शत्रु सैनिक अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं।

इस उदाहरण में राजा उपमेय है और सूर्य, अग्नि तथा यम उपमान है। उपमेय में उपमानों का संशय कवि कल्पना द्वारा उत्पन्न किया गया है और साथ में उपमेय और उपमानों के गुणों की विभिन्नता भी प्रदर्शित कर दी गई है। यहां संदेह अलंकार है।

भेदानुक्तौयथा—

उपमेय और उपमान में भेद के न कहने का उदाहरण—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
चित्तोन्मादरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

[विक्रमोर्वशीयम्]

पुरवा उर्वशी को देखकर कहते हैं—इसकी रचना करने में क्या कान्ति को प्रदान करने वाला चन्द्रमा प्रजापति था ? अथवा चित्त में उन्माद रस को भरने वाले कामदेव ने या पुष्पों को विकसित करने वाले चैत्र मास ने इसकी सृष्टि की ? वेदों के निरन्तर अभ्यास करने से जड़ बुद्धि वाला और विषय भागों से अपनी प्रवृत्तियों को दूर रखने वाला बूढ़ा ब्रह्मा इस मनोहर रूप का निर्माण कैसे कर सकता है ?

उर्वशी के इस सौन्दर्य का रचयिता कौन है, इस विषय में यहां अनेक संशय उत्पन्न किये गये हैं और साथ में उनकी विभिन्नताओं का कथन भी नहीं किया गया। अतः यह सन्देह अलंकार है।

११८४,६०

१४. भ्रान्तिमान्

साऽम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थिता ।

[विश्वनाथ, साहित्यदर्पण]

जब वस्तु में साम्य के कारण अन्य वस्तु की बुद्धि या निश्चय होता है, और जो कवि की प्रतिभा से उत्पन्न होता है, तब भ्रान्तिमान् अलंकार होता है।

प्रतिभोत्थितेति 'शुक्तिकायां रजत' इति भ्रान्तिर्नास्य अलंकारस्य विषयः ।

इस लक्षण में 'प्रतिभोत्थिता' का अभिप्राय है कि यह भ्रन्ति कवि-कल्पनाप्रसूत होनी चाहिये, अतः 'शुक्तिकायां रजतम्' सीप में चांदी की भ्रान्ति हुई, इस भ्रान्ति के कविकल्पनाप्रसूत न होने के कारण यहाँ भ्रान्तिमान् अलकार नहीं होगा। यथा—

महाराज ! श्रीमन् ! जगति यशसां ते धवलिते,
पयःपारावारं परमपुरुषोऽय मृगयते ।
कपर्दी कैलास करिवरमभौमं कुलिशभृत,
कलानाथं राहु कमलभवनो हंसमधुना ॥

[भोजप्रबन्धः]

हे श्रीमन् ! महाराज भोज ! तुम्हारे यश द्वारा संसार के धवल हो जाने पर ये विष्णु क्षीरसागर को खोज रहे हैं, शिव कैलाश को खोज रहे हैं, इन्द्र ऐरावत को खोज रहे हैं, राहु चन्द्रमा को खोज रहा है और ब्रह्मा हंस को खोज रहे हैं।

अत्र भोजराजस्य यशसा धवलीकृत जगति सर्वत्रापि परमपुरुषादीनां समुद्रादिभ्रान्तिः कविप्रतिभोत्थितेति भ्रान्तिमानलंकारः ।

इस उदाहरण में, राजा भोज के यश द्वारा संसार के धवलित हो जाने पर सभी स्थानों पर विष्णु को क्षीरसागर की, शिव को कैलाश की, इन्द्र को ऐरावत की, राहु को चन्द्रमा की और ब्रह्मा को हंस की भ्रान्ति हो रही है। यह भ्रान्ति कवि की कल्पना द्वारा उत्पन्न की गई है, अतः यहां भ्रान्तिमान् अलंकार है।

भ्रान्तिमान् और संदेह में अन्तर—संदेह और भ्रान्तिमान् दोनों सादृश्य-मूलक अलंकार हैं। दोनों में ही प्रस्तुत में अप्रस्तुत का बोध होता है। संदेह में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का निश्चायात्मक ज्ञान ही होता, किन्तु भ्रान्तिमान् में यह ज्ञान निश्चयात्मक होता है।

१५. अपह्नुति

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।

[विश्वनाथ, साहित्यदर्पण]

प्रस्तुत विषय का नियेध करके अप्रस्तुत विषय की स्थापना करने पर अपह्नुति अलंकार होता है।

अत्रापि कविप्रौढोक्ति सिद्धमेव।

यह अपह्नुति अलंकार भी तभी होता है, जब यह निषेध और स्थापना कविकल्पना से प्रसूत हो। यथा—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च ताराः नवफेनभंगाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः॥

यह आकाश नहीं है, अपितु समुद्र है, ये तारे नहीं हैं, अपितु नवीन फेन के टुकड़े हैं, यह चन्द्रमा नहीं है, अपितु कुण्डली लगा कर बैठे हुये शेषनाग हैं, वह कलङ्क नहीं है, अपितु भगवान् विष्णु सो रहे हैं।

अत्र प्रस्तुतानां नभोमण्डलादीनां प्रतिषेधेन अम्बुराशिप्रभृतीनाम अप्रस्तुतानां स्थापनम्।

इस उदाहरण में प्रस्तुत विषय नभोमण्डल आदि का निषेध करके अप्रस्तुत विषय अम्बुराशि आदि की स्थापना करने के कारण अपह्नुति अलंकार है, अथवा—

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः॥

(रघुवंशम्)

उस ही क्षण रावण के मुकुटों से राक्षसों की राज्यलक्ष्मी के अश्रु बिन्दु मणियों के बहाने से पृथ्वी पर बिखर गये।

अत्र प्रस्तुतानां मणीनां प्रतिषेधेन अश्रुबिन्दूनां स्थापनम्।

इस उदाहरण में प्रस्तुत विषय मणियों का 'व्याज' पद द्वारा प्रतिषेध करके अप्रस्तुत विषय अश्रु बिन्दुओं की स्थापना की गई है, अतः यहाँ अपह्नुति अलंकार है।

अपह्नुति और रूपक में अन्तर—अपह्नुति और रूपक दोनों में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है। रूपक अलंकार में प्रस्तुत का निषेध नहीं किया जाता, अपह्नुति में प्रस्तुत का निषेध किया जाता है।

१६. समासोक्ति

यत्रोक्ताद् गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता सङ्क्षेपार्थतता बुधैः॥

(अग्निपुराण)

जहाँ कही गई वस्तुत से उसी के समान विशेषणों वाला अन्य अर्थ अभिव्यक्त होता है, संक्षिप्त अर्थ वाला होने के कारण विद्वान् उसे समासोक्ति कहते हैं।

तत्समान विशेषण इत्युपलक्षणं, तेन तत्समानकार्यः, तत्समानलिङ्गश्च गह्यते। यत्र समैर्विशेषणैः कार्यैर्लिङ्गैश्च उक्तात्–प्रस्तुताद् अप्रस्तुताद्वा, अन्य यथाक्रममप्रस्तुतः वा, अर्थोगम्यते बोध्यते, सा संक्षेपोक्तिस्वरूपत्वात्, 'समासेन संक्षेपेण उक्तिः' इति व्युत्पत्या समासोक्ति, कथिता। संक्षेपश्च एकस्य वचनेनोभयप्रतिपत्तिरिति। आदर्शे—'अप्रस्तुताद् वाच्यात् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इत्यभिहितम्। नव्यास्तु-तद्वैपरीत्येन प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिः। 'अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुत प्रशंसा' इत्याहु। 'वाच्ये प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः समासोक्ति' इति विश्वनाथादयः। प्रस्तुतस्तु उभयत्रापि समासोक्तेरेवाभ्युपगमस्यौचित्यादनुगुणमेव प्राचीनरीत्या लक्षण-मुक्तमस्माभिः।

ऊपर कहे गये लक्षण में 'तत्समानविशेषणः' इस पद को उपलक्षण मात्र समझना चाहिये, अर्थात् यह अन्य परिस्थितियों को भी व्यक्त करता है, अतः इस पद से 'उसके समान कार्य' और 'उसके समान लिङ्ग' इन अर्थों का भी ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जहाँ समान विशेषणों द्वारा, समान कार्यों द्वारा और समान लिङ्गों द्वारा कही गई वस्तु से, प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत से कोई

ग्रन्य वस्तु, क्रमशः अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुत अर्थ अभिव्यक्त होते हैं, उस उक्ति को, संक्षेपोक्तिस्वरूप होने के कारण 'समास अर्थात् संक्षेप से उक्ति कथत' इस व्युत्पत्ति के कारण समासोक्ति कहते हैं। संक्षेप का यहां अभिप्राय यह है कि एक के ही कथन से दोनों अर्थों का बोध होता है। दण्डी के काव्यादर्श में समासोक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है। अप्रस्तुत वाच्य अर्थ से प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर समासोक्ति अलंकार होता है। इसके विपरीत नवीन आलंकारिक-प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर समासोक्ति अलंकार मानते हैं। अप्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर वे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार मानते हैं। विश्वनाथ आदि के मत से प्रस्तुत वाच्य अर्थ में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोपित करना समासोक्ति है। वस्तुतः प्रस्तुत से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में, और अप्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में दोनों ही अवस्थाओं में समासोक्ति अलंकार को स्वीकार करना उचित है। इस कारण उभयविध लक्षणों का समन्वय करके प्राचीन रीति से समासोक्ति का लक्षण दिया गया है। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥
(रघुवंशम्)

कानों को सुख देने वाली भ्रमरों के शब्दों रूपी गीतावलियाँ, पुष्प रूपी कोमल दांतों की शोभा वाली उपवन की लतायें, पवन द्वारा हिलाये जाते हुये ताल युक्त हाथों रूपी किसलयों से शोभित हो रही थीं।

अत्र विशेषणसाम्यात् कार्यसाम्याच्च प्रस्तुताद वनलतारूपार्थादप्रस्तुतो नर्तकीरूपोऽर्थः प्रतीयते।

यहाँ लताओं और नर्तकियों में विशेषणों की और कार्य की समानता होने के कारण प्रस्तुत 'उपवनलता' रूप अर्थ से अप्रस्तुत 'नर्तकी' रूप अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। अथवा—

चातकस्त्रिचतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासितः।
सोऽपि पूरयति भूयसाऽम्भसा चित्रमत्र महतामुदारता॥
(पूर्वचातकाष्टकम्)

पिपासा से पीड़ित चातक मेघ से तीन या चार जल की बूंदों की याचना

करता है, किन्तु वह प्रभूत जल से उसे तृप्त करता है। महान् व्यक्तियों की उदारता आश्चर्यजनक है।

अत्र अप्रस्तुताच्चातकजलधराच्च कार्यसम्यात् प्रस्तुतो याचकः उदाराशयो धनपतिश्च बोध्यते।

इस उदाहरण में चातक और जलधर का प्रसंग अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत से 'याचना करना और प्रभूत देना' इन कार्यों की समानता के कारण प्रस्तुत याचक और उदार धनपति अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

१७. प्रतीप

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयस्यप्रकल्पनम्।
निष्फलस्याभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते॥

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

प्रसिद्ध उपमान की उपमेय रूप में कल्पना करने पर या उस उपमान की निष्फलता का कथन करने पर प्रतीप अलंकार होता है।

प्रतीप का अर्थ विपरीत है। कवि अपनी कल्पना द्वारा लोक प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय के रूप में उपस्थित करता है अथवा उपमेय के होने पर उन उपमानों की व्यर्थता प्रतिपादन करता है। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं,
मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वद् सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

(महानाटक)

हे प्रिये ! तुम्हारे नेत्रों की कांति के समान कांति वाला वह नीला कमल जल में डूब गया, तुम्हारे मुख की शोभा का अनुकरण करने वाला चन्द्र बादलों से छिप गया। तुम्हारी गति का अनुसरण करने वाले जो राजहंस थे, वे भी चले गये। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि भाग्य इसको भी सहन नहीं कर सका कि मैं तुम्हारे सदृश वस्तुओं से भी कुछ विनोद प्राप्त करलूं।

अत्र प्रसिद्धानामुपमानवस्तूनामिन्दीवरादीनामुपमेयत्वप्रकल्पनम्।

इस उदाहरण में उपमान के रूप में प्रसिद्ध इन्दीवर आदियों की कवि ने उपमेय के रूप में कल्पना की है। अतः यहाँ प्रतीप अलंकार है।

मुखं यदि किमिन्दुना ? यदि चलाञ्चले लोचने,
किमुत्पलकदम्बकैः ? यदि तरंगभंगी भ्रुवौ।
किमात्मभवधन्वना ? यदि सुसंयता कुन्तलाः
किमम्बुवहडम्बरैः ? यदि तनूरियं किं श्रिया॥

(महावीर चरितम्)

यदि मुख है तो चन्द्रमा का क्या प्रयोजन है ? यदि चञ्चल कटाक्षों वाले नेत्र हैं तो कमलों के समूहों से क्या प्रयोजन है ? यदि तरंगों के समान कुटिल भवें हैं तो कामदेव के धनुष से क्या प्रयोजन है ? यदि उत्तम प्रकार से संवारे हुये केश हैं तो मेघों के समूहों से क्या प्रयोजन है ? यदि नायिका का यह शरीर है तो लक्ष्यों से क्या प्रयोजन है अर्थात् मुख आदि उपमेयों के होने पर इन्दु आदि उपमानों का कोई प्रयोजन नहीं है, वे व्यर्थ हैं।

अत्र इन्दुप्रभृतीनां निष्फलत्वकथनम्।

इस उदाहरण में कवि ने मुख आदि उपमेयों के विद्यमान रहने पर इन्दु आदि उपमानों की निष्फलता, व्यर्थता की कल्पना की है, अतः यहाँ प्रतीप अलंकार है।

प्रतीप और उपमा में अन्तर—प्रतीप उपमा का ठीक विरोधी अलंकार है। उपमा अलंकार का 'उपमेय' प्रतीप अलंकार में 'उपमान' और उपमान 'उपमेय' हो जाता है। उपमान के साथ उपमेय के साम्य का वर्णन करते हुये कवि उपमा अलंकार में उपमान (अप्रस्तुत) की उत्कृष्टता को उद्भावित करता है, किन्तु प्रतीप अलंकार में उपमान को उपमेय बनाकर कवि प्रस्तुत की उत्कृष्टता को अभिव्यक्त करता है।

१८. श्लेष

श्लेष अलंकार दो प्रकार का होता है, शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष। इनका यहां क्रमशः वर्णन किया जाता है।

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।

(विश्वनाथ साहित्यदर्पण)

श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों का कथन करने पर श्लेष अलंकार होता है। ऐसे पद जो अनेक अर्थों को बोधित करते हैं श्लिष्ट कहलाते हैं।

स च वर्णप्रत्ययप्रकृतिपदादिश्लेषाद् बहुविधः।

यह श्लेष अलंकार, वर्णश्लेष प्रत्यय श्लेष, प्रकृतिश्लेष, पदश्लेष आदि के आधार पर अनेक प्रकार का होता है। यथा—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि॥

(शिशुपालवधम्)

विधु अर्थात् चन्द्रमा के अथवा विधि अर्थात् भाग्य के प्रतिकूल हो जाने पर अनेक साधन भी व्यर्थ हो जाते हैं। सायंकाल के समय अस्त होते हुवे सूर्य को सहारा देने के लिये हजारों कर अर्थात् किरणें अथवा कर अर्थात् हाथ भी समर्थ नहीं होते।

अत्र 'विधौ' इत्यत्र विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोर्वर्णयोरौकाररूपत्ववर्णश्लेषः। 'कर' इत्यत्र प्रकृतिश्लेषोऽपि।

इस उदाहरण में 'विधौ' इस पद में 'विधु' इस शब्द में उकार वर्ण का और 'विधि' इस शब्द के इकार वर्ण का सप्तमी विभक्ति में औकार वर्ण रूप में श्लेष हुआ है, अतः यहां वर्णश्लेष है। 'कर' शब्द के किरण और हाथ ये दो अर्थ होने के कारण यहाँ प्रकृतिश्लेष है।

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥

इस श्लोक में कोई याचक राजा के घर के साथ अपने घर की समानता का वर्णन करता है, अतः यहाँ राजसदन और याचक सदन के पक्ष में, दो अर्थ हैं। राजसदन पक्ष में —

बड़े बड़े स्वर्ण के पात्रों से युक्त, अलंकारों से भूषित समग्र परिजनों वाला, शोभायमान हथिनियों से भरा हुआ, हे राजन् आपका घर है और याचक सदन के पक्ष में

बच्चों के आर्तस्वर से भरा हुआ, भूमि पर सोने वाले समस्त परिजनों से युक्त, चूहों द्वारा खोदी गई धूलि से भरा हुआ याचक का सदन है, इस प्रकार

शब्द के साम्य के कारण हम दोनों के सदन समान हैं।

अत्र पदश्लेषः—

इस उदाहरण में 'पृथुकार्तस्वर', 'भूषित' और 'विलसत्करेणु' इन पदों से एक साथ अनेक अर्थों का बोध होने के कारण यह पद श्लेष है।

शब्दश्लेष

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्।

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

अनेकार्थक शब्द जब स्वाभाविक रूप से एक अर्थ का बोध कराने के लिये प्रयुक्त किये गये हों, तब अनेकार्थों का बोध होने पर श्लेष अलंकार होता है।

स्वभावादेकार्थैरिति शब्दश्लेषाद्, वाचनमिति च ध्वनेर्व्यवच्छेदः।

यहाँ 'स्वभावादेकार्थैः' पदों का प्रयोग अर्थश्लेष को शब्दश्लेष से पृथक् प्रदर्शित करने के लिये किया गया है अर्थात् शब्दश्लेष में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से अनेक अर्थों का बोध कराने के लिये किया जाता है, किन्तु अर्थश्लेष में शब्द तो अनेकार्थक होते हैं, किन्तु उनका प्रयोग स्वाभाविक रूप से एक अर्थ के बोध के लिये होता है, तथापि दूसरा अर्थ भी बोधित हो जाता है। लक्षण में 'वाचनम्' शब्द का प्रयोग श्लेष को 'ध्वनि' से पृथक् प्रदर्शित करने के लिये है। श्लेष अलंकार में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, किन्तु ध्वनि में एक वाच्य अर्थ से अन्य व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है।

खलस्य कण्टकस्येव द्विविधैव प्रतिक्रिया।
उपानद्दा वक्त्रभङ्गो दूरतो वा विवर्जनम्॥

कांटे के सदृश दुष्ट मनुष्य के लिये दो प्रतिकार किये जाते हैं। या तो जूते से उसका मुख तोड़ दे, या उसे दूर से ही छोड़ दे।

यहां वक्त्रभङ्ग शब्द से मुख का तोड़ देना अथवा कांटे के नोक का तोड़ देना दोनों ही अर्थ बोधित होने से श्लेष अलंकार है।

श्लेष और समासोक्ति में भेद—समासोक्ति और श्लेष दोनों में अनेकार्थक शब्दों अर्थात् श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु समासोक्ति में

एक अर्थ वाच्य और दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य होता है, जबकि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं। समासोक्ति में केवल विशेषणों के लिये ही श्लिष्ट पदों का प्रयोग किया जाता है, जबकि श्लेष में सभी पद श्लिष्ट हो सकते हैं।

१९. विभावना

विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति होने पर विभावना अलंकार होता है। यथा—

अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम्।
अतर्कितोपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥

(कुमारसंभवम्)

बिना किसी संभावना के आपका यह दर्शन मुझे, बिना बादल आये वर्षा होने के समान और बिना फूल लगे फल आने के समान प्रतीत होता है।

अत्र मेघोदयकुसुमरूपकारणयोरभावेऽपि वर्षफलस्वरूपकार्ययोरभिधानम्।

वर्षा के होने का कारण मेघों का उदित होना और फलों के लगने का कारण फूलों का आना है। यहां 'मेघों का उदित होना' और 'कुसुमों का आना' इन कारणों के न होने पर भी 'वर्षा का होना' और 'फलों का लगना' इन कार्यों का कथन किया गया है, अतः यहां विभावना अलंकार है।

२०. विशेषोक्ति

सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः।

(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)

कारण के होने पर भी जब कार्य का अभाव होता है, विशेषोक्ति अलंकार होता है।

त्रिधा च सा। उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्याप्यचिन्त्यत्वे च कुत्रचित्। उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता चेति सा त्रिधा।

विशेषोक्ति अलंकार तीन प्रकार का होता है, कार्य के न होने का हेतु कह दिया जावे, न कहा जावे अथवा अचिन्त्य हो। इस प्रकार उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिन्यनिमित्ता, इस तरह तीन प्रकार का विशेषोक्ति

अलंकार होता है। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं।

(क) उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति—

धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चंचलाः।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः॥

महामहिमाशाली जन धनी होते हुये भी उन्माद से रहित होते हैं, युवा होते हुये भी चचल नहीं होते और प्रभु होते हुये भी प्रमादयुक्त नहीं होते।

अत्र धनादिरूपहेतुसत्वेऽपि उन्मादादिरूपफलाभावः महामहिमशालित्वञ्चात्र निमित्तमुक्तम्।

धनी होना, युवा होना और प्रभु होना कारण हैं और उन्मादयुक्त होना, चञ्चल होना और प्रमत्त होना क्रमशः इनके कार्य हैं। इन कारणों के होने पर भी कार्य के अभाव का कथन किया गया है, और साथ में इसका निमित्त भी दिया गया है—'महामहिमशालिनः' अर्थात् महामहिमाशाली होने से वे इस प्रकार के नहीं होते। अतः यहां उक्तनिमित्त विशेषोक्ति अलंकार है।

(ख) अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति—

अत्रैव चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे निमित्तमनुक्तं भवति।

अपर के ही उदाहरण में 'महामहिमशालिनः' के स्थान पर 'कियन्तः सन्ति भूतले' इस प्रकार पाठ करने पर निमित्त अनुक्त हो जाता है। इसमें 'धनी आदि कारणों के होने पर भी 'उन्मादयुक्त होना' आदि कार्यों का अभाव है और उसका निमित्त है 'महामहिमशलित्व'। इस निमित्त को हटा देने पर निमित्त का कथन न होने के कारण यहाँ अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति अलंकार होगा।

(ग) अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति—

एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्॥

अकेला होते हुये भी वह कामदेव तीनों लोकों को जीत लेता है। जिसके शरीर का विनाश करके भी शिव उसके बल का हरण नहीं कर सके।

अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम्।

शरीर के नष्ट हो जाने पर बल का विनाश नहीं हुआ, इसका निमित्त

अचिन्त्य है। शरीर के नष्ट हो जाने पर बल भी नष्ट हो जाता है अर्थात् शरीर का नष्ट होना कारण और बल का नष्ट होना कार्य है। कारण के होने पर भी कार्य के अभाव का कथन किया गया है। इसका निमित्त सामान्य जन द्वारा अनुसन्धान करने पर भी चिन्त्य नहीं होता, अतः यहां अचिन्त्य-निमित्ता विशेषोक्ति है।

अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति में अन्तर यह है कि प्रथम मे निमित्त होने पर भी उसका कथन नहीं किया जाता। दूसरी में बार बार अनुसन्धान करने पर भी निमित्त उपलब्ध नहीं होता।

विभावना और विशेषोक्ति में अन्तर—विभावना और विशेषोक्ति ये दोनों अलंकार विरोधमूलक हैं और परस्पर विपरीत हैं। विभावना अलकार में कारण के न होने पर भी कार्य की उत्पत्ति का कथन किया जाता है और विशेषोक्ति अलंकार में कारण के होते हुए भी कार्य के अभाव का कथन किया जाता है। विभावना का चमत्कार कार्य की उत्पत्ति का कथन करने में और विशेषोक्ति का चमत्कार कार्य की अनुत्पत्ति का कथन करने में है।

२१. विरोधाभास

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वचः।

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

वस्तुतः विरोध न होने पर भी परस्पर विरुद्ध रूप से वचनों का प्रयोग करना विरोध अलंकार है।

वस्तुतोऽविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव धर्मयोर्यदभिधानं, स विरोधः। अयमेव विरोधाभास इत्यप्युच्यते। व्यधिकरणयोरिव धर्मयोः सामानाधिकरण्येव निर्देशो विरोधः। धर्मश्चात्र जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपः।

वस्तुतः विरोध न होने पर भी परस्पर विरुद्ध की तरह प्रतीत होने वाले धर्मों का जो कथन है, वह विरोध अलंकार है। इसी को विरोधाभास अलंकार भी कहते हैं। 'व्यधिकरण' अर्थात् भिन्न भिन्न आश्रम में रहने वाले धर्मों का 'समानाधिकरण' अर्थात् एक ही आश्रम से निर्देश करना विरोध कहलाता है। धर्म यहां चार प्रकार के हैं—जातिरूप, गुण रूप, क्रिया रूप और द्रव्य रूप। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥

(रघुवंशम्)

भगवान् विष्णु की स्तुति करते हुये देवता कहते हैं, हे प्रभो ! अज अर्थात् कभी जन्म न लेने वाले होकर आप जन्म लेते हो, चेष्टा न करने वाले होकर शत्रुओं का विनाश करते हो, सोते हुये भी जागरूक रहते हो, आपकी यथार्थता को कौन जान सकता है ?

अत्र भगवतः प्रभावातिशायित्वादापाततः प्रतीयमानस्य विरोधस्य समाधानम् ।

यहाँ यद्यपि विरोध प्रतीत होता है, तथापि भगवान् विष्णु के अतिशय प्रभाव के कारण उसका समाधान होता है। यद्यपि वे स्वरूपतः अज हैं, तथापि दुष्टों के विनाश और सज्जनों की रक्षा के लिये अवतार लेते हैं। स्वरूपतः चेष्टारहित होते हुये भी दुष्टों का विनाश करते हैं। योगनिद्रा में सोते हुये भी सम्पूर्ण जगत् के दृष्टा हैं। इस प्रकार वस्तुतः विरोध न होने पर भी यहाँ विरुद्ध प्रतीत होने वाले वचनों के कारण विरोध अलंकार है।

अथवा—

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥

(कुमारसंभवम्)

ब्रह्म की स्तुति करते हुये कहा गया है—जगद योनि होते हुये भी आप अयोनि हैं, जगदन्तक होते हुये भी निरन्तक हैं, जगदादि होते भी अनादि हैं, और जगदीश होते हुये भी निरीश्वर हैं।

अत्र नञ्तत्पुरुषसमासे विरोधः, बहुव्रीहिणा परिहारः ।

यहाँ नञ् तत्पुरुष समास के कारण अयोनि आदि शब्दों से जगदयोनि आदि शब्दों का विरोध प्रतीत होता है, बहुव्रीहि समास मानने पर इस विरोध का परिहार हो जाता है, अतः इस श्लोक का इस प्रकार अर्थ करना चाहिये—हे ब्रह्मन् ! आप जगत् की योनि अर्थात् कारण हैं, आपकी कोई

योनि अर्थात् कारण नहीं है। आप जगत् का अन्त करने वाले हैं, कोई अन्त करने वाला नहीं है। आ जगत् के आदि हैं, आपका को नहीं है अर्थात् आप से कोई भी पूर्व नहीं हुआ। आप जगत् के ईश हैं, कोई ईश नहीं है। इस प्रकार यहाँ विरोध न होने पर भी परस्पर प्रतीत होने वाले वचनों के कारण विरोध अलंकार है।

विरोध और विभावना एवं विशेषोक्ति में अन्तर—तीनों ही अ विरोधमूलक हैं। इनमें विरोध की प्रतीतिमात्र है, वस्तुतः विरोध न 'विभावना' अलंकार में कारण के न होने पर भी कार्य की उत्पत्ति हो 'विशेषोक्ति' अलंकार में कारण के होने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं एवं 'विरोध' अलंकार में कार्य और कारण परस्पर विरुद्ध रूप से हो विभावना और विशेषोक्ति का क्षेत्र केवल कार्य कारण भाव तक रहता है, किन्तु विरोध अलंकार का क्षेत्र इससे बहुत अधिक विस्तृत है

